संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रिय भावना

(कुमायूँ विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय में
डी० लिट्० उपाधि प्राप्त शोध-प्रबन्ध)

(प्रथम खण्ड)

लेखक :

डा० हरिनारायण दीक्षित

एम० ए०, पीएच० डी०, डी०लिट्०

साहित्य-सांख्ययोग-व्याकरणाचार्य

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग

कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल-२६३००२ (उ०प्र०)

१९८३

प्रकाशिका

देववाणी-परिषद्, दिल्ली

६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

(भारतम्)

संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रिय भावना (खण्ड १)

(डी० लिट्० शोध-प्रबन्ध)

लेखक : डा० हरिनारायण दीक्षित

प्रकाशिका : देववाणी-परिषद्, दिल्ली
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५६

मुद्रक : देववाणी प्रिंटर्स
उत्तम नगर, नयी दिल्ली-११००५६

संस्करण : प्रथम, १९८३

मूल्य : पचास रुपये मात्र रु० ५०.००

SANSKRITA-SĀHITYA MEN RĀSHTRIYA BHĀVANĀ (Vol. I)

(D. Litt. Thesis)

Author : Dixit, (Dr.) Hari Narayan

Publisher : Devavani Parishad, Delhi
6, Vani Vihar, New Delhi-110059

Printer : Dev Vani Printers
Uttam Nagar, New Delhi-110059

Edition : First, 1983

Price : Rs. Fifty only. Rs. 50.00

प्रास्ताविकम्

'देववाणी-परिषदा' अद्यावधि 'सद्ग्रन्थप्रकाशन-योजनान्तर्गतं चतुर्विंशति ग्रन्थानां प्रकाशनं कृतम् । एतेषु अधिकांशा ग्रन्थाः संस्कृतभाषानिबद्धा एव सन्ति किन्तु केचन हिन्दीभाषामाध्यमेनापि संस्कृतसाहित्यानुशीलनं विदधति ।

इदानीञ्च परिषदियम् कुमायूँविश्वविद्यालये संस्कृतविभागाध्यक्षेण किञ्च स्व आजीवनसदस्येन ए० ए०-पी-एच० डी०-डी० लिट्०-साहित्याचार्य-सांख्ययोगाचार्य-साहित्यरत्न-प्रभृत्युपाधिभूषितेन डा० हरिनारायणदीक्षित-महाभागेन हिन्दीभाषायां लिखितस्य 'संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रिय भावना' इति शीर्षकस्य डी० लिट्०-उपाधि-शोधप्रबन्धस्य प्रथमं खण्डं प्रकाशयन्ती हर्षमनुभवति । अस्मिन् खण्डे पञ्चसु अध्यायेषु विदुषा लेखकेन संस्कृत-साहित्ये समुपलभ्यमाना राष्ट्रियभावना स्वालोचनापद्धत्या साक्षात्कृता । अग्रिमे खण्डेऽर्वाचीनसंस्कृतसाहित्ये राष्ट्रियभावनायाः प्रतिपादनं लेखकेन विहितम् । तस्यापि खण्डस्य शीघ्रमेव प्रकाशनमाशास्यते । डा० दीक्षितमहाभागाः स्व-श्रमाय वर्धाप्यन्ते ।

विद्वांसः कुत्रचिज्जातान् मुद्रणप्रमादान् संशोधयितुं सादरं प्राथ्र्यन्ते ।

महाशिवरात्रिः
११ फरवरी १९८३,
६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५९

विदुषामाश्रवः
रमाकान्त शुक्लः
महासचिवः
देववाणी-परिषद्, दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : शोधविषयसम्बद्ध कतिपय पारिभाषिक शब्दों की समीक्षा (पृ० १—५८)

राष्ट्र : कोशकारों की दृष्टि में राष्ट्र, विश्लेषण, राजनीतिशास्त्रियों की दृष्टि में राष्ट्र, विश्लेषण, राष्ट्रियता : कोशकारों की दृष्टि में राष्ट्रियता, राजनीतिशास्त्रियों की दृष्टि में राष्ट्रियता, विश्लेषण, राष्ट्रिय भावना, राजा, राज्य, राजभक्ति, राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, राष्ट्र एवं राजा में अन्तर, राष्ट्र एवं राज्य में अन्तर, राष्ट्रियभावना एवं राजभक्ति में अन्तर, राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र में अन्तर, राष्ट्रियभावना और साहित्यकार, साहित्य में राष्ट्रियभावना की अभिव्यक्ति के आधार, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में राष्ट्रियभावना के सर्वेक्षण के मानदण्ड एवं भारतीय स्वातन्त्र्य समर : एक विश्लेषण।

द्वितीय अध्याय : वेदों में राष्ट्रिय भावना (पृ० ५९—८४)

भारतभूमि की विशेषताएँ, मातृभूमि में 'सर्वस्व' की भावना, राष्ट्रपरिकल्पना, एकता तथा संगठन, नगरों के प्रति स्वाभिमान, नदियों के प्रति समादर, पर्वतों से प्रेम, स्वराज्य-भावना, राष्ट्ररक्षा की भावना, मातृभूमि, मातृसंस्कृति और मातृभाषा के प्रति आदर, गो-कामना, राष्ट्रदेवी, भरत एवं भारत, राष्ट्रविकास-योजनाएँ, राष्ट्रमङ्गलकामना एवम् अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामना।

तृतीय अध्याय : पुराणों में राष्ट्रिय भावना (पृ० ८५—१०८)

पुराण एवं राष्ट्रिय भावना, भारतभूमि, राष्ट्राभिनिवेश, पर्वत और नदियाँ, तीर्थ, वर्णाश्रमधर्म एवं सर्वमंगलकामना।

चतुर्थ अध्याय : उपजीव्य काव्यों में राष्ट्रिय भावना (पृ० १०९—१२२)

उपजीव्यकाव्य, रामायण में राष्ट्रिय भावना, महाभारत में राष्ट्रिय भावना एवं श्रीमद्भागवत में राष्ट्रिय भावना।

पंचम अध्याय : प्राचीन लौकिक संस्कृत साहित्य मे राष्ट्रिय भावना (पृ० १२३—१४६)

भास के रूपक, कालिदास, मुद्राराक्षसम्, भट्टिकाव्यम्, भवभूति, अनर्घराघवम्, चम्पूभारतम्, क्षेमेन्द्र, श्रीहर्ष, भूपरिक्रमणम्, हम्मीरमहाकाव्यम्, वीरभानूदयकाव्यम्, सुर्जनचरितम्, विश्वगुणादर्शचम्पूः, नानकचन्द्रोदयमहाकाव्यम् एवं बालमार्तण्डविजयम्।

प्रथम अध्याय

शोधविषयसम्बद्ध कतिपय पारिभाषिक शब्दों की समीक्षा

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है जो राजनीति-विज्ञान से साक्षात् सम्बद्ध हैं और परिभाषिक भी हैं। यद्यपि शिक्षित समाज में इन शब्दों का प्रयोग बहुलता से होता है, तथापि अपने शोधप्रबन्ध के सन्दर्भ में इन शब्दों के अर्थस्वरूप पर विश्लेषण कर लेना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि प्रस्तुत शोधप्रबन्ध से इन शब्दों का सीधा एवं आधारभूत सम्बन्ध है। साथ ही शोधप्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय की आदिम एवं अन्तिम सीमाओं की कालावधि भी अपने आप में कई हजार वर्षों को समेटे हुए है। यहाँ इस प्रकरण में इस प्रकार के जिन शब्दों का विश्लेषण मुझे अभीष्ट है, वे हैं—राष्ट्र, राष्ट्रियता, राष्ट्रियभावना, राजा, राज्य, राजभक्ति, राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, और स्वातन्त्र्यसमर। स्पष्ट है कि ये सभी शब्द व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं।

राष्ट्र

यद्यपि इस शब्द को सुनकर आपातत: ऐसा आभास नहीं होता है कि यह शब्द अपने आप में किसी व्याख्येय अर्थ को निहित किये हुए है, किन्तु ज्योंही अधुनातन विद्वन्मनीषा के परिवेश में इस शब्द की आत्मा की जिज्ञासा का उदय होता हैं त्योंही इसकी जटिलता एवं विवदनीयता सामने आ खड़ी होती है। संस्कृत भाषा के व्याकरण की प्रकृति एवं प्रक्रिया के अनुसार विचार करने से स्पष्ट होता है कि 'राष्ट्र' शब्द की निष्पत्ति दीप्त्यर्थक 'राज्' धातु से हुई है जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ा गया है।[1]

कोशकारों की दृष्टि में राष्ट्र

श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य द्वारा संकलित संस्कृत के प्रसिद्ध अभिधानग्रन्थ 'वाचस्पत्यम्' में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ 'जनपद' किया गया है और समर्थन के लिए प्रवोधचन्द्रोदय के 'गौडं राष्ट्रमनुत्तमम्' वाक्य को,

---

१. सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्; सिद्धान्तकौमुदी, उणादि प्रकरण, ४/१५८.

जिसका अर्थ है कि गौडों का राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, उद्धृत किया गया है[२]। राजा राधाकान्त देव द्वारा संगृहीत संस्कृत के ही एक अन्य प्रसिद्ध अभिधान-ग्रन्थ 'शब्दकल्पद्रुम' में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ 'विषय' किया गया है और उसकी पुष्टि हेतु मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है :—

अशासंस्तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥

(मनुस्मृति, ६/२५८)

इस श्लोक का भाव यह है कि जो राजा तस्करों को नियन्त्रित नहीं करता है, और (फिर भी) प्रजा से राजकर (वलि) वसूल करता है, उसका राष्ट्र बुरी तरह क्षुभित हो जाता है और वह (राजा) स्वयं भी स्वर्ग से वंचित हो जाता है। शब्दकल्पद्रुमकार ने यहीं अपने द्वारा निर्धारित राष्ट्र शब्द के पर्यायवाची 'विषय' शब्द का अर्थ 'जनपद' लिखा है, जो वाचस्पत्य-कार द्वारा निर्धारित 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ से पूरी तरह मेल रखता है[३]।

पाश्चात्त्य मनीषी डा० श्री एम० मोनियर विलियम द्वारा समाकलित 'ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' नामक शब्दकोष में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ इंग्लिश भाषा में Kingdom (One of the 5 Prakritis of the State), Realm, Empire, Dominion, District, Country, People, Nation और Subjects किया गया है[४]। यहाँ यह लिख देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि Kingdom शब्द का अर्थ Monarchy, Rule, Class, राज (त्व), प्रभुत्व, जाति और वर्ग; Realm शब्द का Royel Jurisdiction, Kingdom, Domain राज्य और प्रदेश; Empire शब्द का the territory of an Emperor, Absolute Control of Sway, साम्राज्य, आधिपत्य किंवा प्रभुत्व; Dominion शब्द का A Sovereignty, Supreme Authority, Government, Colony, अधिकार, राज्य, प्रभुत्व तथा उपनिवेश; Districts शब्द का Thc Portion of a territory marked off for Special Administrative purposes, A Definite Region, प्रदेश या राज्य का विभाग, जिला तथा जनपद; Country शब्द का A Region, Rural Districts, देश, गाँव, और देहात; People शब्द का Persons of a

---

२. राष्ट्र न० राज-ष्ट्रन्। जनपदे 'गौडं राष्ट्रमनुत्तमम्' इति प्रबोधचन्द्रोदयः। ....
(वाचस्पत्यम्, भाग षष्ठ, पृ० ४८०७)

३. शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ काण्ड, पृ० १५८.

४. ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ८७६.

Community or Race, Inhabitants, किसी जाति या समाज के लोग तथा प्रजा; Nation शब्द का Distinct race, People living under one Government, जाति (प्रजा), एक देश या राज्य के लोग और राष्ट्र; Subjects शब्द का अथ Subordinate, Under Government, One who owes allegiance to a Sovereign, अधीनस्थ, शासनाधीन तथा प्रजा भी माना जाता है[५]।

इन्हीं के द्वारा संगृहीत 'इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी' में Nation शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा में जातिः, लोकः, जनपदः, प्रजा, वर्णः, जनता, देशः, विषयः, राष्ट्रं, देशजनः, देशलोकः, देशवासिनः, राष्ट्रवासिनः तथा विशेषदेश-जनता किया गया है[६]।

भारतीय संस्कृत मनीषी प्रोफेसर वामन शिवराम आप्टे द्वारा संकलित 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी' में, जिसका 'संस्कृत हिन्दी कोश' के नाम से हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है, राष्ट्र शब्द का अर्थ Kingdom, Realm, Empire, District, Territory, Country, Region, People, Nation Subjects किया गया है[७]। स्पष्ट है कि विलियम एवं आप्टे के दृष्टिकोण अभिन्न हैं।

हिन्दी-साहित्य-जगत् में विख्यात 'बृहत् हिन्दी-कोश' में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ देश, राज्य और जाति किया गया है[८] तथा 'मानक हिन्दी-कोश' में राज्य, देश, 'किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले लोग जिनकी एक भाषा, एक से रीति-रिवाज तथा एक सी विचारधारा होती हैं' तथा 'किसी एक शासन में रहने वाले सब लोगों का समूह' किया गया है[९]।

यहाँ यह बता देना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि उपर्युक्त कोशग्रन्थों में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ उपद्रव, विप्लव, Any Public calamity (as Famine, Plague etc), Affliction, दुर्भिक्ष, दुष्काल, अकाल, काशिनामक राजा का पुत्र तथा विशेषण के रूप में 'सर्वविदित' भी किया गया है।

---

५. 'Bhargava's Standard Illustrated Dictionary of English Language' के आधार पर।

६. इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ५२६.

७. आप्टे : संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ४६६.

८. बृहत् हिन्दी-कोश, पृ० ११५२.

९. मानक हिन्दी-कोश, पृ० ५०५.

यद्यपि 'राष्ट्र' शब्द के इन अर्थों से 'काशिनामक राजा का पुत्र' अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ चिन्तनीय एवं सन्दिग्ध हैं; किन्तु 'राष्ट्र' शब्द के इन चिन्तनीय एवं सन्दिग्ध अर्थों की मीमांसा करना, प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय न होने के कारण मेरे लिए यहाँ अप्रासंगिक एव व्यर्थ है।

विश्लेषण

प्रतीत होता है कि वाचस्पत्यकार एवं शब्दकल्पद्रुमकार-दोनों ही-की दृष्टि में राष्ट्र शब्द का भावार्थ एक ऐसे भूभागविशेष से है, जहाँ के सभी लोग किसी एक पद्धतिविशेष के शासन के अधीन रहते हैं।

सर एम्० मोनियर विलिअम द्वारा 'राष्ट्र' शब्द के किये गये सभी अर्थ मिलकर 'राष्ट्र' की सर्वाङ्गीण आधुनिक रूपरेखा प्रस्तुत कर देते हैं। क्योंकि राजनीतिशास्त्रियों द्वारा निर्धारित 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषाओं, जो आगे प्रस्तुत की जाएँगीं, के आधारभूत तत्त्व इन सभी राष्ट्रपर्यायवाची शब्दों में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हाँ, 'डिस्ट्रिक्ट' शब्द अवश्य ही राष्ट्र शब्द की अर्थ-गरिमा को क्षीण कर रहा है। पता नहीं, ऐसे हल्के शब्द को अपने आपमें विशालभावात्मकता को समेटने वाले 'राष्ट्र' शब्द का पर्याय बताने की इच्छा श्री विलियम महोदय की बुद्धि में क्यों उदित हुई ? आश्चर्य है कि श्री आप्टे ने भी श्री विलियम का अनुसरण करते हुए 'डिस्ट्रिक्ट' शब्द को 'राष्ट्र' का पर्यायवाची लिख दिया।

'बृहत् हिन्दी कोश' एव 'मानक हिन्दी कोश' में दिए गए 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ पर्याप्त स्पष्टता लिए हुए हैं। कहना होगा कि 'मानक हिन्दी कोश' में 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की आधुनिक आत्मा का भी कोमल स्पर्श कर लिया गया है, जो अतीव स्तुत्य है।

राजनीतिशास्त्रियों की दृष्टि में राष्ट्र

'राष्ट्र' शब्द राजनीतिशास्त्र का एक अतिमहत्त्वपूर्ण शब्द है। यही कारण है कि इस शब्द का 'अर्थ' समझने एवं समझाने के लिए राजनीतिशास्त्रियों ने इसके सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श किया है। कोशग्रन्थकारों की भाँति इन लोगों ने इस शब्द के पर्यायवाची शब्दों की सूची देकर समस्या को जटिल नहीं किया है। इन्होंने इस शब्द को विश्लेषणसापेक्ष अर्थात् 'पारिभाषिक' मानकर इस शब्द की अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार 'परिभाषाएँ' की हैं। यहाँ हम राजनीतिशास्त्र के कतिपय प्रमुख-प्रमुख पाश्चात्त्य एवं

पौरस्त्य चिन्तकों द्वारा निर्धारित 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषाओं को उद्धृत करके उन पर निष्पक्ष विचार करेंगे।

इंग्लिशभाषी राजनीतिशास्त्रियों ने 'राष्ट्र' शब्द के लिए सर्वसम्मति से नेशन (Nation) शब्द का प्रयोग किया है। भाषावैज्ञानिकों की धारणा है कि यह शब्द मूलतः लेटिन भाषा के नेटस (Natus) शब्द से विकसित हुआ है, जिसका अर्थ ऐसी 'जाति' किंवा 'जन्म' होता है, जिसमें प्रजाति (Race) सम्बन्धी समानता पाई जाती है[१०]। इसीलिए राजनीतिशास्त्र में 'राष्ट्र' शब्द के एकमात्र पर्यायवाची 'नेशन' शब्द का अर्थ एक ऐसा 'मानवपुंज' समझा जाता है जो जन्म, जाति एवं प्रजाति की दृष्टि से परस्पर एकता की सुदृढ़ भावना रखता है।

विश्व में राजनीतिक चेतना का ज्यों-ज्यों विकास हुआ है त्यों-त्यों राजनीतिशास्त्र के अन्यान्य शब्दों के अर्थों की भाँति 'राष्ट्र' ('नेशन') शब्द के भी अर्थ की विवेचना होती रही है। अनेक विद्वानों ने इस शब्द के भावार्थ की आत्मा को समझाने के लिए इस शब्द की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:-

(क) "A Nation is a population of an ethnic unity inhabiting a territory of a Geographical Unity......" (Burgess)

(जातीय एकता में आबद्ध उस जनता को राष्ट्र कहते हैं जो किसी अखण्ड भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है।)

(ख) "A Nation is a culturally homogeneous Social group which is at once conscious and tenacious of its unity of psychic life and expression." (Prof. J. W. Garner)

(मानव समाज के उस समूह को राष्ट्र कहते हैं जो सांस्कृतिक दृष्टि से समान हो; और जो अपने आध्यात्मिक जीवन की एकता एवं अभिव्यक्ति के प्रति जागरूक तथा दृढसंकल्प हो।)

---

१०. Etymologically, 'Nation' and 'Nationality' mean the samething. They are both derived from the Latin word 'Natus' (born), implying common ethnic origin, ...
(Gurmukh Nihal Singh, Fundamentals of Political Science and Organisation, Chapter 2nd, Page No. 44)

(ग) "A Nation is a body of people, who feel themselves natural to be linked together by certain affinities which are so strong and real that they can live happily together, are dissatisfied when disunited, cannot share subjection of people, who do not share these ties."

(Ramsay Muir)

(राष्ट्र ऐसे मनुष्यों का एक समूह है जो कतिपय निश्चित समानताओं से परस्पर आवद्ध होने में अपने-आप को सहज समझते हैं। ये समानताएँ इतनी सुदृढ और इतनी वास्तविक होती हैं कि इनसे जुड़कर वे लोग आपस में प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं। यदि उन्हें पृथक्-पृथक् किया जाय तो वे असन्तुष्ट होते हैं; और वे उन लोगों के साथ रहना पसन्द नहीं करते हैं जो उन लोगों की समानताओं से कोई 'नाता' नहीं रखते हैं।)

(घ) "A Nation is portion of mankind united by common sympathies with each other, rather than other people with a desire to be under the same Government."

(J. S. Mill, Representative Goverhment, Chapter-16)

(एक समान सरकार के अधीन रहने की इच्छा रखने वाले, अन्य लोगों से कहीं अधिक आपस के लोगों से सामान्य सहानुभूति से जुड़े हुए मानव जाति के किसी भी भाग को राष्ट्र कहते हैं।)

(ङ) "A Nation means a people organised in a state and acting Spontaneously as a unity."

(Gilchrist)

(राष्ट्र का तात्पर्य एक ऐसे मानवसमूह से है जो एक राज्य के रूप में संगठित हो और स्वाभाविक एकता की भावना से कार्य करता हो।

(च) "A Nation is a nationality, which has organized itself into a political body either independent or desiring to be independent."

(Lord Robert Bryce, Impressions of South Africa, Page No. 33)

(राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्रीयता है जिसने अपने आपको एक राजनैतिक संगठन के रूप में संगठित कर लिया है और जो या तो स्वतन्त्र है या फिर स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती है।)

(छ) "………राष्ट्र जनसमूह में विद्यमान एकता की उस विशेष भावना का नाम है जो इस जनसमुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियन्त्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है[११]।"

(ज) "………एक जनसमूह अनेक तत्त्वों[१२] के आधार पर एकता की भावना से आबद्ध होकर राष्ट्रीयता का निर्माण करता है। जब यह राष्ट्रीयता की भावना उस जनसमूह को राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान कर देती है या उसे इस दिशा में प्रेरित करती है तो वह एक राष्ट्र कहलाता है……।"[१३]

विश्लेषण

राजनीतिशास्त्रियों द्वारा निर्धारित की गई 'राष्ट्र' शब्द की उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के समन्वयात्मक स्वाध्याय से स्पष्ट होता है कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ 'राष्ट्र' के स्वरूप की परिकल्पना में भी कुछ न कुछ परिवर्तन होता गया है। हम देखते हैं कि आरम्भ में किसी मानवसमूह की जातीय एकता, सांस्कृतिक एकता, आध्यात्मिक जीवन की एकता एवं अभिव्यक्ति के प्रति जागरूकता तथा किसी अखण्ड भूभाग विशेष में निवास ही 'राष्ट्र' के स्वरूपाधायक तत्त्व माने जाते रहे हैं। यहाँ उद्धृत की गई आरम्भिक तीन परिभाषाएँ इसी तथ्य का उद्‌घाटन कर रही हैं। किन्तु मानव समाज में ज्यों ज्यों राजनीतिक चेतना का आदर बढ़ा, त्यों-त्यों 'राष्ट्र' के स्वरूपाधायक तत्त्वों में भी राजनीति का प्रवेश होता गया। फलस्वरूप किसी भी राष्ट्र के 'राष्ट्रत्व' को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक होता

---

११. पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, द्वितीय खण्ड, पृ० २१.

१२. "परन्तु एक निश्चित भूखण्ड में निवास तथा वंशगत एकता ही राष्ट्र के निर्माणकारी तत्त्व नहीं हैं। इनके साथ-साथ भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, साहित्य आदि की एकता का होना भी किसी जनसमूह के एक राष्ट्र के रूप में, संगठित होने की भावना को प्रदर्शित करता है।"

(डा० जी० डी० तिवारी, राजनीतिविज्ञान के मूल तत्त्व, पृ० ६६)

१३. डा० जी० डी० तिवारी, आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० २४७.

गया कि उसमें रहते हुए मानवसमूह में राष्ट्र के अन्य तत्त्वों के साथ-साथ राजनैतिक स्वतन्त्रता भी हो; और यदि यह स्वतन्त्रता नहीं है तो कम से कम इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रबल एवं क्रियाशील अभिलाषा तो अवश्य ही होनी चाहिए। क्यों कि आज के इस स्वतन्त्र राजनीतिप्रधान युग में राजनैतिक स्वतन्त्रता अथवा राजनैतिक स्वतन्त्रता की क्रियाशील अभिलाषा के अभाव में कोई भी और कैसा भी मानव समूह 'राष्ट्र' नहीं बन सकता, भले ही वह अपनी जातीय, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, भौगोलिक आदि एकताओं से भली भाँति आवद्ध हो। इसका कारण भी स्पष्ट है; और वह यह है कि आज विश्व में राजनैतिक स्वतन्त्रता की ही सर्वोपरि मान्यता है। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसे प्राप्त किये विना कोई भी मानवसमूह अपनी प्रजातीय भौगोलिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक गरिमा एवं स्वाभिमान की रक्षा नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में उस मानवसमूह को 'राष्ट्र' कहना 'राष्ट्र' शब्द का अपमान करना है। हाँ, यदि राजनैतिक स्वतन्त्रता न भी हो, पर उसे प्राप्त करने के लिए लोगों में अदम्य उत्साह है, उत्कट आकांक्षा है, अखण्ड लगन है, साहसपूर्ण प्रतिक्रिया है, मर-मिटने तक की भी योजना है, तो अवश्य ही उस मानव-समूह को 'राष्ट्र' जैसे गौरवपूर्ण शब्द की संज्ञा दी जा सकती है। क्यों कि आत्मगौरव की रक्षा करने का जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक महत्त्व उसकी रक्षा करने के लिए मर-मिटने की 'साध' का है। क्यों कि यह 'साध' ही तो उसे एक दिन सर्वतन्त्र स्वतन्त्र एवं राजनैतिक स्वातन्त्र्य सम्पन्न 'राष्ट्र' बनाती है; और तब समस्त विश्व में उसका सम्मान होने लगता है। अतः आज के इस राजनैतिक स्वतन्त्रताप्रधान युग में 'राष्ट्र' के स्वरूपाधायक तत्त्वों में 'राजनैतिक स्वतन्त्रता' किंवा 'राजनैतिक स्वतन्त्रता की अदम्य भावना' का समावेश सुतरां स्वाभाविक एवं संगत है। यहाँ उद्धृत की गई 'राष्ट्र' शब्द की अन्तिम पाँच परिभाषाएँ इसी वास्तविकता को प्रकट करती हैं।

राष्ट्र शब्द की आत्मा का संस्पर्श पाने के लिए हमने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अभिधानग्रन्थों तथा विख्यात राजनीतिशास्त्रियों के मतों का सहारा लिया हैं। इस प्रक्रिया में यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि अभिधानग्रन्थों में 'राष्ट्र' शब्द के केवल पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है, जिससे 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की आत्मा का बोध नहीं हो पाता है; वल्कि भिन्न-भिन्न अर्थ वाले और भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने वाले जनपद, विषय, जाति, लोक, प्रजा

वर्ण, जनता, देश, विषय, देशजन, देशलोक, देशवासी, राष्ट्रवासी, विशेषदेश-जनता, राज्य, किंगडम, रेल्म, एम्पायर, डोमेनियन, डिस्ट्रिक्ट, कण्ट्री, पीपुल, नेशन, सब्जेक्ट्स, टेरिटॅरी, रीजन आदि अनेक पर्यायवाची शब्दों को पढ़कर मस्तिष्क में भ्रान्ति उठ खड़ी होती है, जिससे उसमें 'राष्ट्र' शब्द के वास्तविक तात्पर्य का विम्व नहीं बन पाता है। हाँ, राष्ट्र शब्द के इन समस्त पर्यायवाची शब्दों पर शब्दों के अर्थविकास की भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया के आधार पर विचार करने से यह आभास अवश्य मिलता है कि 'राष्ट्र' के स्वरूपाधायक कतिपय मौलिक तत्त्व, जैसे कि मानवसमूह, जातीयता, भूभाग तथा शासन-सत्ता, इनमें विद्यमान हैं।

अभिधानग्रन्थों के पश्चात् आते हैं राजनीतिशास्त्र के चिन्तन-मननशील कतिपय मनीषी। इन्होंने 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की महत्ता, व्यापकता एवं जटिलता का अनुभव करके उसे 'पारिभाषिक शब्द' माना और अपनी-अपनी मनीषा के अनुसार उसकी परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें से कतिपय सारभूत परिभाषाएँ इस शोधप्रवन्ध में इसी प्रकरण में प्रस्तुत की जा चुकी हैं। इन परिभाषाओं का मनन-चिन्तन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये परि-भाषाएँ भी 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की 'आत्मा' का सर्वाङ्गीण संस्पर्श नहीं कर पाई हैं। हाँ इतना अवश्य है कि अभिधानग्रन्थकारों की अपेक्षा ये लोग 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ को समझाने में अधिक सफल हुए हैं। किन्तु सम्पूर्ण सफलता इन्हें भी नहीं मिल सकी है। क्योंकि जहाँ अभिधानग्रन्थकार केवल किसी 'शब्दान्तर विशेष' द्वारा राष्ट्र शब्द के अर्थ को समझाने की चेष्टा में लगे रहे, ये लोग भी केवल एकवाक्यात्मक किसी परिभाषाविशेष द्वारा ही उसे समझाने में जुटे रहे। यही कारण है कि 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की विशाल 'आत्मा' का सर्वाङ्गीण संस्पर्श नहीं हो पाया है। पर इसमें सन्देह नहीं है कि यदि ये लोग परिभाषा की 'एकवाक्यात्मकता' का व्यामोह त्यागकर उसकी व्याख्या में प्रवृत्त होते तो अवश्य ही 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की 'आत्मा' का अविकल बिम्ब उभरकर पाठकों के समक्ष आ जाता।

प्राचीनकाल में किसी भी राष्ट्र की परिधि विशाल नहीं हुआ करती थी, समूचा देश किंवा समूचा विश्व सैंकड़ों छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त बना रहता था। विश्व के किसी एक द्वीप किंवा महाद्वीप के राष्ट्र दूसरे द्वीप किंवा महाद्वीप के राष्ट्रों की गतिविधियों से प्रायः अपरिचित रहते थे।

किन्तु आज ऐसा नहीं है। आज तो विज्ञान के प्रभाव से द्वीपों एवं महाद्वीपों का लम्बा अन्तराल नितान्त अर्थहीन हो गया है और एक गाँव से दूसरे गाँव जाने की भाँति ही आज एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में जाया जा सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि एक द्वीप किंवा महाद्वीप से दूसरे द्वीप किंवा महाद्वीप में भी चन्द घण्टों में उड़कर जाया जा सकता है। अतः हमारा विचार है कि प्राचीन काल में भले ही क्षेत्र, जाति, भाषा, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, आध्यात्मिक भावना आदि की एकता अथवा सदृशता को राष्ट्र के स्वरूपाधायक तत्त्वों में गिना जाता रहा हो, पर इनमें से बहुत से ऐसे भी तत्त्व हैं जो अधुनातन राष्ट्र के स्वरूप की परिकल्पना में अपेक्षित नहीं हैं। विशेष रूप से क्षेत्र एवं धर्म की एकता प्रायः महत्त्वहीन ही हो चुकी है। अतः इस सन्दर्भ में हमें अपने दृष्टिकोण को क्षेत्र, धर्म आदि के संकीर्ण दायरों से बाहर करना होगा और उसे पर्याप्त व्यापक तथा उदार बनाना होगा। क्योंकि उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण के अभाव में आज 'राष्ट्र' शब्द के तात्पर्य का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण असम्भव है। अतः यह उचित प्रतीत होता है कि अभिधानग्रन्थकारों की 'एकशब्दनिष्ठ पर्यायवाचिता शैली' तथा राजनीतिशास्त्रियों की 'एकवाक्यनिष्ठ परिभाषा शैली' को त्यागकर व्याख्यापद्धति को अपनाया जाय, ताकि 'एकशब्दता' एवं 'एकवाक्यता' की सीमा के बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक अद्यतन 'राष्ट्र' के भावसागर का पार पाया जा सके।

(क) हमारी धारणा है कि किसी भी मानवसमूह को 'राष्ट्र' की पदव पाने के लिए सर्वप्रथम आपस में सुदृढ़ आत्मीयता एवं एकता की भावना का विकास करना होगा। समूह के सदस्यों में आपस में कितनी ही दूरी क्यों न हो, पर उनमें एक दूसरे के लिए ममत्व एवं आकर्षण अवश्य होना चाहिए। उन्हें परस्पर संवेदनशील भी होना चाहिए, अर्थात् उनमें एक-दूसरे के सुख-दुःख अपना सुख-दुःख मानने की हार्दिक इच्छा होनी चाहिए। विशेष रूप से दूसरे के दुःख को स्वयं बाँटकर उसकी तन, मन और धन से सहायता करनी चाहिए। इस प्रकार की सार्वजनीन आत्मीयता ही किसी भी 'राष्ट्र' की आधारशिला हुआ करती है। क्योंकि इसके अभाव में उस समूह के सदस्यों में एकराष्ट्रियता का भाव जागरित नहीं हो सकता।

(ख) आत्मीयता की इस भावना को उदित करने में भौगोलिक एकता का भी हाथ माना गया है और कहा गया है कि किसी क्षेत्रविशेष के निवासी

अपने क्षेत्र में रहर वालों से तो पूरा ममत्व रखते हैं; पर इतर क्षेत्र के निवासियों को आत्मीय कहने में वे थोड़ा संकोच करते हैं। अभिधानग्रन्थों में उपलब्ध होंने वाले 'राष्ट्र' शब्द के पर्यायवाची जनपद, विषय, डिस्ट्रिक्ट, टैरीटरी और रीजन जैसे शब्द भी इस धारणा को पुष्ट करते हुए से प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि राजनीतिशास्त्री प्रोफैसर बर्गेस की 'राष्ट्' शब्द की परिभाषा में भी भौगोलिक क्षेत्र की महत्ता प्रकट की गई है।

हम यह मानते हैं कि किसी भूभाग में चिरकाल तक निवास करने से उसके प्रति लोगों में ममत्व की भावना हो जाती है, उसके प्रति प्रेम हो जाता है और उसकी रक्षा हेतु एक सामूहिक चेतना भी पनप जाती है; क्योंकि उसके निवासी एक दूसरे से भली भाँति परिचित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उस भूभाग को वे किसी दूसरे प्रकार के लोगों के अधिकार में देना तो दूर रहा, देखना भी पसन्द नहीं करते हैं; और जहाँ तक उनका वश चलता है, वे उसे अपने ही अधिकार में रखते हैं; भले ही इसके लिए उन्हें अपने प्राणों की आहुति क्यों न देनी पड़े। भौगोलिक आत्मीयता की इस भावना ने, इटली, जर्मनी और भारतवर्ष की 'राष्ट्रसर्जना' एवं 'राष्ट्ररक्षा' में पर्याप्त योगदान भी किया है। किन्तु यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं है कि वर्तमान-काल में 'राष्ट्र' की सीमा को इस प्रकार की 'क्षेत्रविशेष' की सीमा में अन्तर्भूत नहीं माना जा सकता है। क्योंकि आज क्षेत्रीय इकाइयों का तो अन्तर्भाव 'राष्ट्र' में हो रहा है, पर 'राष्ट्र' का अन्तर्भाव क्षेत्रीय इकाई में कहीं नहीं देखा गया है। हाँ, यह स्थिति प्राचीनकाल के भारत में अवश्य थी, जब किसी 'क्षेत्रविशेष' का कोई एक राजा हुआ करता था और उसका वह 'क्षेत्रविशेष' ही राज्य हुआ करता था, जिसे कभी-कभार 'राष्ट्र' के नाम से भी अभिहित कर दिया जाता था। पर आज ऐसा नहीं है। क्योंकि आज सभी राजपद समाप्त कर दिए गए हैं और सभी राज्यों को मिलाकर एक विशाल 'भारतराष्ट्र' का निर्माण किया गया है, जिसमें अनेक प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र अन्तर्निहित हैं। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और गुजरात से लेकर अरुणाचल तक विस्तृत इस विशाल राष्ट्र में भौगोलिक एवं वातावरणिक भिन्नताओं के बावजूद यहाँ की जनता में परस्पर आत्मीयता एवं एकता की अदम्य भावना घर किए हुए है। यही कारण है कि बंगाल की बाढ़, आन्ध्र के समुद्री तूफान, राजस्थान के दुर्भिक्ष और हिमालय की हिमानी से समूचा राष्ट्र ठीक उसी प्रकार दुःखी हो जाता है जिस प्रकार

शरीर के किसी भी अंग में पीड़ा होने से सारा शरीर बेचैन हो उठता है। इसी प्रकार राष्ट्र की किसी भी क्षेत्रीय सीमा पर आक्रमण करने वालों की पराजय सुनकर समूचे राष्ट्र में खुशियाँ मनाई जाती हैं और घी के दीप जलाए जाते हैं। इसके विपरीत जर्मनी और फ्रांस के भौगोलिक क्षेत्र में कोई वैषम्य नहीं है। किन्तु फिर भी वे पृथक्-पृथक् 'राष्ट्र' हैं। यदि भौगोलिक क्षेत्र की एकता 'राष्ट्रसर्जना' का प्रवल कारण होती तो उस क्षेत्र में दो राष्ट्रों का उदय एवं विकास नहीं होता। सन् १९४८ तक यहूदियों के पास तो भूभाग था ही नहीं; पर उनमें विद्यमान स्वातन्त्र्यप्राप्ति की भावना के आधार पर उन्हें एक राष्ट्र के रूप में माना ही जाता था। कहना न होगा कि इस तथ्य ने तो राष्ट्रनिर्माण के लिए भौगोलिक क्षेत्र की आवश्यकता की जड़ ही काट दी है। अतः अन्वयव्यतिरेकपरक उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि भौगोलिक एकता की भावना अब 'राष्ट्रसर्जना' के लिए आवश्यक नहीं है। पर यहाँ हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि भौगोलिक एकता होनी ही नहीं चाहिए। क्योंकि यदि वह होती है तो न केवल 'राष्ट्र-निर्माण' में ही, अपितु राष्ट्र की रक्षा में भी पर्याप्त सहायता करती है। अतः राष्ट्र के लिए इसकी सत्ता का तो वहुत अधिक महत्त्व है, पर असत्ता का नहीं।

(ग) किसी भी जनसमूह की जातीय[१४] एकता अथवा समानता (Racial unity or similarity) को भी राष्ट्र के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण वताया गया है। इस तथ्य की पुष्टि हेतु कहा गया है कि एक ही या एक जैसी जाति में उत्पन्न लोगों में आत्मीयता की भावना स्वतः एवं बद्धमूल होती है। वे जातीयता के आधार पर परस्पर सुसंगठित भी रहते हैं; और अपना स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने की प्रक्रिया में प्रयत्नशील रहते हैं। इतिहास साक्षी है कि आयरिश लोगों ने और यहूदियों ने अपनी जातीय एकता के आधार पर ही राष्ट्रनिर्माण किया है।

किन्तु आज के परिवेश में भली भाँति विचार करने पर राष्ट्र-सर्जना एवं राष्ट्र-रक्षा के लिए 'जातीय एकता' भी अनावश्यक एवं महत्त्वहीन प्रतीत

---

१४. (अ) इंग्लिश भाषा में राजनीतिशास्त्र को प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने इस तत्त्व के संदर्भ में Race शब्द का ही प्रयोग किया है न कि Caste शब्द का।

(ब) श्री एम० मोनियर विलियम ने इंग्लिश भाषा के Caste शब्द के अर्थ के समान ही Race शब्द का भी अर्थ जाति और वर्ण किया है।

(इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ६५२)

होती है। क्योंकि आज हम देखते हैं कि अमेरिका, स्विटजरलैण्ड, कनाडा, फ्रांस, इटली, जर्मनी, हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, बंगला देश आदि अनेक राष्ट्रों में अनेक प्रकार की जातियों के लोग रह रहे हैं और उन सब में अपने-अपने राष्ट्र के प्रति पूरी निष्ठा भी है। इतना ही नहीं, वल्कि आज विश्व में ऐसे राष्ट्र विरल ही होंगे, जिनमें विशुद्ध रूप से केवल एक ही जाति के लोग हों। इसके अतिरिक्त एक जाति के अन्दर ही अनेक प्रकार के ऊँचे-नीचे स्तर वाली उपजातियों के पनपते रहने के कारण 'जातीय एकता' छिन्न-भिन्न भी होती रहती है। भारतवर्ष की वर्णव्यवस्था ने हिन्दू जाति की एकता को जो आघात पहुँचाया है, उसे कौन नहीं जानता ? अतः आज के युग में 'राष्ट्र' के लिए जातिगत एकता का महत्त्व समाप्त कर दिया गया है। इस संदर्भ में पाश्चात्य मनीषी प्रो० बी० जोसेफ (जोजेफ) ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'राष्ट्रीयता जातीयता को चीरकर पार निकल जाती है'।[१५] प्रो० गार्नर भी राष्ट्र के साथ वंश के सम्बन्ध को पाशविक प्रवृत्ति का प्रेरक वताते हुए इसे त्याज्य मानते हैं।[१६] ठीक भी तो है, जर्मनी के हिटलर ने अपने वंशाभिमान के कारण ही न केवल अपने को सार्वभौम सम्राट् सिद्ध करने की योजना वनाई थी, वल्कि यहूदियों पर अमानुषिक अत्याचार भी किए थे। अतः इन सभी तथ्यों के प्रकाश में अव यह धारणा उजागर हो गई है कि 'राष्ट्र' के लिए जातीय एकता की भावना अभिशाप के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

(घ) भाषा को भी राष्ट्र के स्वरूपाधायक तत्त्वों में गिना गया है। राजनीति के पुरातन चिन्तकों की धारणा रही है कि किसी भी जनसमूह को एकता में आवद्ध करने वाले तत्त्वों में 'भाषा की एकता' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य चिन्तक श्री रेमजे म्योर का कहना है कि राष्ट्र के निर्माण में भाषा जाति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। श्री वर्नाड जोजेफ की दृष्टि में भी भाषा राष्ट्रीयता का सवसे अधिक शक्तिशाली तत्त्व है; और इसी प्रकार फिक्टे की भी धारणा है कि एकता का मुख्य वन्धन भाषा है[१७]। राजनीतिशास्त्र के विवेकशील एवं ख्यातिप्राप्त भारतीय चिन्तक श्री गुरुमुख निहाल सिंह का भी विचार है कि आधुनिक युग में भाषा एवं साहित्य ही

---

१५. नेशनलिटी, पृ० ११८.

१६. पोलिटिकल साइन्स एण्ड गवर्नमेण्ट, पृ० १०८.

१७. पुखराज जैन, 'राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त', पृ० २६.

एक ऐसा तत्त्व है जो मानवसमूह को आपस में संगठित किये हुए है और उनमें राष्ट्रीयता की भावना को प्रवुद्ध किए हुए है।[१८]

हमारा यही अनुभूत विश्वास है कि यदि किसी जनसमूह की एक ही भाषा होती है तो उसके सदस्य अपने विचारों का परस्पर आदान-प्रदान वड़ी आसानी से कर लेते हैं; उनमें एक दूसरे को समझने की क्षमता भी अधिक होती है; और उनकी साहित्यिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी 'सर्वजन-वोधाय' होती है; फलस्वरूप उनमें आपस में एक सहज आत्मीयता की सुदृढ़ भावना घर किए रहती है जो उन्हें अपनी 'राष्ट्रीयता' के प्रति निष्ठावान् एवं सुसगठित वनाए रहती है। और यदि उनकी भाषा भिन्न-भिन्न होती है, तो वे एक दूसरे को समझने में असमर्थ रहते हैं; उनका साहित्य एक दूसरे के लिए अनुपयोगी हो जाता है; उनमें सांस्कृतिक भेदभाव घर कर लेता है; वे अपनी-अपनी भाषा, अपने-अपने साहित्य और अपनी-अपनी संस्कृति को वढ़ावा देने में लगे रहते हैं और इतरभाषाभाषी जनसमूह की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सम्पदा को आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं। फलस्वरूप उनमें पारस्परिक भेदभाव का जहर धीरे-धीरे फैलता जाता है और एक समय ऐसा आ जाता है कि सभी लोग पारस्परिक इर्ष्या, द्वेष और कलह की आग में झुलसने लगते हैं। अपनी-अपनी भाषा एवं साहित्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते-करते वे विघटन की प्रक्रिया में भी आ जाते हैं। उस समय 'राष्ट्र' की एकता पर महान् संकट आ जाता है और यदि उस नाजुक समय में राष्ट्र के नेताओं में सहनशीलता, विवेकशीलता, दूरदर्शिता और राष्ट्रीय अखण्डता की भावना का अतिरेक नहीं हुआ, तो भाषा के आधार पर राष्ट्र का विभाजन भी हो सकता है। हम अपने भारतवर्ष में ही देखते हैं कि अंग्रेजों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् यहाँ भाषा को लेकर न जाने कितना विवाद उठता रहता है। क्योंकि यहाँ की जनता में भाषाओं की भरमार है। यहाँ के लोग हमेशा ही अपने-अपने क्षेत्र की भाषा और

---

१८. In modern time it is language and literature which have knit several people together and inspired in them the sentiment of nationality.

(Fundamentals of Political Science and Organisation, Page No. 45)

उसके साहित्य की दुहाई देते रहते है। इसी कारण से यहाँ की केन्द्रीय सरकार को सबको खुश करने के लिए क्षेत्रीय भाषाओं के आधार पर न केवल राज्य सरकारों का ही गठन करना पड़ा, वल्कि यहाँ की उन सभी क्षेत्रीय भाषाओं को राजकीय मान्यता भी प्रदान करनी पड़ी है[१९]। उसका परिणाम यह हुआ है कि सभी क्षेत्रीय भाषाएँ भारत की राष्ट्रभाषा वनने की प्रतियोगिता में आ गई हैं और उनका व्यवहार करने वाले लोग अपने-अपने क्षेत्र की भाषा का झण्डा ऊँचा करने के लिए राष्ट्र की अखण्डता का भी ध्यान नहीं रखते हैं। केन्द्रीय सरकार ने भाषाविवाद की इस प्रचण्ड कलहाग्नि से अभिनव राष्ट्रपादप की रक्षा के उद्देश्य से जब समूचे राष्ट्र की राष्ट्रभाषा के रूप में किसी एक भाषा को निश्चित करना चाहा तो नेताओं में विवाद उठ खड़ा हुआ और वे अपने-अपने क्षेत्र की भाषा को ही राष्ट्र-भाषा के रूप में घोषित कराने के लिए कृतसंकल्प से हो गए। फलस्वरूप भाषाविवाद एक समस्या के रूप में प्रस्तुत हो गया; और हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के आधार पर तथा बोलने वालों की संख्या के बाहुल्य को देखकर जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा वनाने की बात ने जोर पकड़ा तो दक्षिणभारत के लोगों ने इसका विरोध किया; और हिन्दी, जो केवल उत्तर भारत के कुछ सीमित क्षेत्रविशेष की ही भाषा है, की अपेक्षा अंग्रेजी, जो विदेशी भाषा होकर भी समूचे देश में लब्धप्रतिष्ठ है, को ही वनाए रखने का प्रस्ताव कर दिया। इससे स्वर्गीय पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जो उस समय भारत के प्रधानमन्त्री थे, वड़े ऊहापोह में फँस गए थे। वे नहीं चाहते थे कि स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् भी भारत में विदेशी भाषा राष्ट्रभाषा रहे। किन्तु वे दक्षिणभारतवासियों, जो हिन्दी से सर्वथा अनभिज्ञ थे, की भी कठिनाइयों को समझते थे। उस समय इस विषम परिस्थिति में अपने राष्ट्र-भक्त कतिपय मूर्धन्य मनीषियों ने भारत की राष्ट्रभाषाविषयक इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक और पक्षपातरहित होकर विचार करके श्री नेहरू को यह सत्परामर्श दिया था कि संस्कृत को भारत की राष्ट्रभाषा वनाया जाए।

---

१९. यह सभी जानते और मानते हैं कि आसाम में असमिया, बंगाल में बंगला, पंजाब में पंजाबी, राजस्थान में राजस्थानी, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी तामिलनाडु में तमिल, आन्ध्र में तेलगु, केरल में मलयालम, कर्नाटक में कन्नड और उड़ीसा में उड़िया भाषा का साम्राज्य है। विहार, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में हिन्दी का बोलवाला है।

क्योंकि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने से दक्षिणभारतवासियों को उत्तरभारत-वासियों की तुलना में अखिलभारतीय प्रशासनिक परीक्षाओं में पीछे रहने की जो आशंका है, वह निराधार नहीं है; और अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाए रखने से एक तो देश का अपमान होगा और दूसरे उत्तरभारतवासी दक्षिणभारत-वासियों, जो अँग्रेजी में विशेष पटु हैं, की तुलना में अखिलभारतीय प्रशासनिक परीक्षाओं में पीछे रहा करेंगे। ऐसी स्थिति में अच्छा यही होगा कि संस्कृत भाषा को ही राष्ट्रभाषा बना दिया जाए। इसे पढ़ने लिखने के लिए राष्ट्र के सभी व्यक्तियों को समान श्रम करना होगा। अतः कोई भी व्यक्ति भाषा-विषयक अतिरिक्त लाभ नहीं पा सकेगा। क्योंकि यह किसी क्षेत्र विशेष की भाषा नहीं है; बल्कि समूचे देश की भाषा है और सभी भाषाओं की जननी भी है। साथ ही संस्कृत भाषा को राष्ट्रभाषा बना देने से विश्व में भारत का सम्मान भी बढ़ेगा। क्योंकि भारत का ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, सांस्कृतिक निधि आदि सभी कुछ संस्कृत भाषा में ही पाया जाता है।

दूरदर्शी राष्ट्रभक्त विद्वानों के इस प्रस्ताव का दक्षिणभारतवासी मनीषियों ने भी हृदय से समर्थन किया। किन्तु पण्डित नेहरू के मनःपटल पर 'हिन्दी, हिन्दू हिन्दुस्तान' का नारा पूरी तौर से छाया हुआ था। साथ ही वे स्वयं भी संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे। अतः उन्होंने इस प्रस्ताव को सुना-अनसुना कर दिया और व्यवस्था दे दी कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाय। किन्तु दक्षिण भारत की जनता को प्रशासनिक कार्यों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने का तब तक पूरा-पूरा अधिकार होगा जब तक वह हिन्दी भाषा का ज्ञान नहीं कर लेती। इस प्रकार बड़ी जद्दोजहद के साथ हिन्दी भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बना दी गई।

अनेकभाषाभाषी भारत में एक राष्ट्रभाषा बनाने की अनिवार्य आवश्य-कता की अनुभूति एवं पूर्त्ति इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि किसी भी राष्ट्र की अखण्डता के लिए उसकी कोई न कोई एक सर्वमान्य भाषा अवश्य होनी चाहिए।

राजनीतिशास्त्र के भारतीय मनीषी श्री पुखराज जैन का कहना है कि के राष्ट्र लिए भाषा की एकता का होना अनिवार्य नहीं है। क्योंकि अनेक राष्ट्रों में भाषावैविध्य होने के बावजूद भी उनमें राष्ट्रिय एकता पाई जाती है। उदाहरण के लिए उन्होंने स्विटज़रलैण्ड और भारतवर्ष के नाम उल्लिखित

किए हैं।[२०] किन्तु श्री जैन की धारणा चिन्तनीय है। क्योंकि हम देखते हैं कि भारतवर्ष में हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने के बावजूद कभी-कभी भाषा-विवाद इतना भयंकर उठ खड़ा होता है कि राष्ट्र की अखण्डता भी कम्पमान हो जाती है। कुछ वर्षों पूर्व एकमात्र हिन्दी भाषा के प्रयोग के प्रचार में जब उत्तर भारत के हिन्दीभाषी राज्यों में अँग्रेजी के 'साइनबोर्डों' के बहिष्कार का अभियान चला तो दक्षिण भारत में हिन्दी के विरोध की प्रचण्ड लहर दौड़ गई थी। फलस्वरूप सारा राष्ट्र आन्दोलित हो उठा था और राष्ट्र की अखण्डता पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगना शुरू हो गया था। इस सबका एकमात्र कारण यही था कि संवैधानिक रूप से हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद मिल जाने के बावजूद वह सम्पूर्ण भारत, विशेषरूपेण दक्षिण भारत के लोगों में अपना स्थान नहीं बना सकी थी। अतः राष्ट्र में भाषा की एकता का अभाव प्रच्छन्न रूप में विद्यमान था। उस समय केन्द्रीय नेताओं की दूरदर्शिता से ही भारत की अखण्डता पुनः सुरक्षित हो सकी थी।[२१]

राष्ट्रीय अखण्डता की विस्फोटक इस अप्रिय दुर्घटना पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करने वाला व्यक्ति श्री जैन के विचार से सहमत होने की भूल नहीं करेगा। अत: कहना न होगा कि भाषा की एकता न केवल राष्ट्रसर्जना का स्वरूपाधायक तत्त्व है; बल्कि समूचे राष्ट्र को एकता में आबद्ध बनाए रखने के लिए सुदृढ सूत्र भी है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रभाषा अवश्य ही होती है; भले ही उस राष्ट्र में अन्य अनेक भाषाओं का प्रयोग होता हो।

(ङ) धार्मिक समानता भी लोगों में पारस्परिक एकता का उद्दाम संचार करती है, जिससे एक धर्मनिष्ठ जनसमूह में अपने पृथक् 'राष्ट्र' की स्थापना

---

२०. राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, पृ० २६.

२१. ——मेरी आशंका है कि अभी भी हिन्दी को अखिल भारतीय समर्थन हृदय से नहीं दिया जा रहा है। भाषाओं के आधार पर संगठित दाक्षिणात्य राज्यों में हिन्दी को अपने ऊपर आरोपित (Imposed) समझा जाता है। अतः राष्ट्रभाषा की व्यावहारिक सत्ता अभी भी संकटग्रस्त प्रतीत होती है। इसे निस्संकट बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार को या तो समस्त राष्ट्र में हिन्दी को लोकप्रिय बनाना होगा; या फिर संस्कृतभाषा, जो सम्पूर्ण भारतराष्ट्रवासियों के लिए समानभाव से आदरणीय एवं स्पृहणीय है, को ही राष्ट्रभाषा का पद देना होगा। —लेखक

का अंकुर जन्म ले लेता है। इतिहास साक्षी है कि योरोप में रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट धर्मों ने स्वतन्त्र राष्ट्रीयता की आधारशिला रखने में महत्त्व-पूर्ण योग दिया है इस्लाम धर्म ने भी विश्व में अनेक राष्ट्रों की सर्जना की है। भारतवर्ष में भी इस्लामधर्म ने पाकिस्तान के नाम से अपना स्वतन्त्र राष्ट्र निर्मित करा दिया है। भारत की राष्ट्रिय अखण्डता भी हिन्दूधर्मगत एकता के बल पर ही अवलम्बित है। यहूदियों की भी राष्ट्रचेतना उनकी धर्मगत एकता की ही भित्ति पर टिकी हुई है। इन सभी उदाहरणों के देखने से यह विश्वास बनता है कि राष्ट्रचेतना के उदय एवं विकास में धर्मगत एकता एक अतीव शक्तिशाली प्रेरक तत्त्व है।

राजनीतिशास्त्रियों ने आधुनिक युग में धार्मिक एकता को भी राष्ट्रचेतना का अनिवार्य तत्त्व नहीं माना है। उनका तर्क है कि आधुनिक युग में भारत, अमेरिका, स्विटजरलैण्ड आदि राष्ट्रों में अनेक धर्म प्रचलित हैं और उनकी राष्ट्रीय एकता भी अक्षुण्ण है। किन्तु यह तर्क संगत नहीं है। क्योंकि सनातनधर्म, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, जैनधर्म, बौद्धधर्म, सिक्खधर्म आदि नामों की विविधता को देखकर उनका यह कथन कि भारतवर्ष में अनेक धर्म प्रचलित हैं, नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि सूक्ष्मेक्षिका द्वारा विचार करने पर सिद्ध होता है कि ये सभी हिन्दू धर्म के ही उपधर्म हैं, न कि स्वतन्त्र धर्म। क्योंकि इन सभी उपधर्मों के अनुयायियों में हिन्दुत्व की भावना बद्ध-मूल होती है।

हम यह मानते हैं कि भारत में हिन्दूधर्मनिष्ठ व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो इस्लामधर्मनिष्ठ हैं और हिन्दूधर्म की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न हैं। किन्तु ये लोग अल्पसंख्यक हैं और एक वार अपने इस्लाम-धर्म की एकता की दुहाई देकर हिन्दुस्तान की भूमि पर अपना 'पाकिस्तान' नामक राष्ट्र बना भी चुके हैं। इससे यह सुतरां सिद्ध हो जाता है कि धार्मिक एकता राष्ट्रचेतना की उत्प्रेरिका होती है। इस संदर्भ में पुखराज जैन ने बंगला देश की स्थापना का उदाहरण देकर कहना चाहा है कि धार्मिक एकता राष्ट्रिय एकता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है। क्योंकि यदि होता तो इस्लामधर्मानुयायी भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान के लोग अपने समानधर्मानुयायी पश्चिमी पाकिस्तान से विघटित होकर बंगला देश नामक स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं बनाते[२२]। किन्तु श्री जैन यह भूल जाते हैं कि बंगला देश के निर्माण में भाषा

---

२२. राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, पृ० सं० २६.

एवं क्षेत्र की भिन्नता तथा प्रशासकीय भेदभाव ने धार्मिक एकता की चेतना को दबा दिया था। और यह भी आवश्यक नहीं है कि एक धर्म के लोग विश्व में केवल एक ही राष्ट्र बनाकर रहें; वे अन्यान्य राष्ट्रों की भी तो सर्जना कर सकते हैं।

यहाँ कुछ व्यक्ति क्रिश्चियन भी हैं, जो संख्या में नितान्त अल्प हैं। अतः इनके मन में भारत की राष्ट्रियता के प्रति अभी विद्रोह की भावना का अभाव स्वाभाविक ही है।

इसके अतिरिक्त यहाँ धर्मनिरपेक्ष प्रजातन्त्र सरकार (Secular Democratic Government) है। अतः हिन्दू, मुसलमान और ईसाई—सभी समान आदर और समान अधिकारों का उपयोग कर रहे हैं। फलस्वरूप किसी के मन में राष्ट्रिय एकता को नष्ट करने का प्रश्न ही नहीं उदित होता।

उपर्युक्त तथ्यपरक विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतवर्ष में एकमात्र हिन्दूधर्म का बाहुल्य एवं प्राबल्य है; तथा इसी धार्मिक एकता के आधार पर भारत राष्ट्र की अखण्डता सुरक्षित है।

(च) राष्ट्र के उदय एवं विकास के लिए जनसमूह की सांस्कृतिक एकता का भी उल्लेखनीय महत्त्व होता है। इसके अन्तर्गत समूह के सभी मनुष्य अपने आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, जप-तप, पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, सगुन-असगुन, लोक-परलोक, देवी-देवता आदि के विषय में एक सामान्य चेतना का अनुभव करते हैं, जिससे उनमें भौगोलिक वातावरण की भिन्नता होने के बावजूद एक घनीभूत एकता का आभास जीवित रहता है जो उन्हें अपनी राष्ट्रीयता की एकता के प्रति जागरूक बनाए रखता है; और जिसके सहारे उनमें राजनैतिक स्वतन्त्रता की भावना का उदय होता है, जिसे दूसरे शब्दों में 'राष्ट्रचेतना' कहते हैं।

(छ) राजनैतिक आकाङ्क्षा तो राष्ट्र के विकास के लिए परम आनिवार्य तत्त्व है। यह आकाङ्क्षा किसी जनसमुदाय में या तो अपनी अतीतकालीन राजनैतिक स्थिति से प्रेरित होती है, या फिर भविष्यत्कालीन 'सर्वजनसुखाय' 'सर्वजनहिताय' राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए अंकुरित होती है। यह निर्विवाद तथ्य है कि राष्ट्रीयता की भावना से युक्त जब किसी जनसमूह में राजनैतिक आकाङ्क्षा जन्म ले लेती है तो उसी क्षण वहाँ एक स्वतन्त्र

'राष्ट्र' की नींव पड़ जाती है। अतः यह तत्त्व 'राष्ट्र' के उदय का स्वरूपाधायक प्रमुख तत्त्व है।

(ज) शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न की समानता भी 'राष्ट्रचेतना' को उत्तेजित करती है। जब किसी विदेशी शासन से सभी को सभी क्षेत्रों में समान उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है तो यह अतीव स्वाभाविक है कि उन लोगों में उस विदेशी शासन के प्रति घृणा का भाव भर जाता है जो उन्हें 'स्वतन्त्र राष्ट्र' की सर्जना के लिए उत्साहित करता है ओर वे सब फिर एक होकर उसके निर्माण में प्रवृत्त हो जाते हैं। भारतवर्ष को एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने में सभी भारतीयों को अंग्रेजी शासन से सभी क्षेत्रों में मिलने वाले उत्पीड़नों की समानता का ही प्रमुख हाथ रहा है।

इस समस्त मीमांसा का संक्षेप में निष्कर्ष यह निकलता है कि राष्ट्र के उदय एवं विकास के लिए निम्नलिखित तत्त्व उपेक्षित हैं :—

राष्ट्र के तत्त्व

- प्रमुख (स्वरूपाधायक) तत्त्व
  - जन समुदाय
  - सांस्कृतिक एकता
  - धार्मिक एकता
  - भाषा की एकता
  - राजनैतिक आकांक्षा
- गौण (सहायक) तत्त्व
  - जातीय एकता
  - भौगोलिक एकता
  - आत्मीयता
  - बाह्य उत्पीड़न की एकता

इन तत्त्वों के आधार पर 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ की आत्मा तक सरलता से पहुँचने के लिए अब हम यह कह सकते हैं कि जब किसी जनसमुदाय के सदस्य अपने आचार-विचार, रीति-रिवाज़, रहन-सहन, जप-तप, पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा, तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना, सगुन-असगुन, लोक-परलोक, देवी-देवता आदि के विषय में समान धारणाओं के आधार पर पारस्परिक आत्मीयता तथा एकता का अनुभव करते हैं; भिन्न-भिन्न उपधर्मों की अवहेलना न करते हुए किसी आधारभूत (मौलिक) धर्म के प्रति समानभाव से आस्थावान् रहते हैं; क्षेत्रीय बोलियों और भाषाओं की विविधता के बावजूद किसी एक भाषा और उसके साहित्य पर निष्ठा रखते हैं तथा उसके

अन्तःक्षेत्रीय, सार्वजनिक एवं व्यापक प्रयोग में आत्मगौरव का अनुभव करते हैं; किसी विदेशी सरकार द्वारा दिए जाने वाले शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक उत्पीडनों से समान रूप में पीड़ित होते हैं; और यदि उनमें अपनी संस्कृति, भाषा, धर्म तथा आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अपनी वर्तमानकालीन राजनैतिक सम्प्रभुता की रक्षा-सुरक्षा करने की अथवा अतीतकालीन राजनैतिक स्वतन्त्रता का पुनरुद्धार करने की अथवा भविष्यत्कालीन सर्वजनकल्याणकारी स्वतन्त्र राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने की सामूहिक रूप में अदम्य भावना जाग पड़ती है और इसको सफल करने के लिए यदि वह जनसमुदाय अनीप्सित विदेशी सरकार को हटाने के लिए अनवरत संघर्ष में प्रवृत्त हो जाता है तो वह जनसमुदाय एक 'राष्ट्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। यदि सौभाग्य से ऐसा जनसमुदाय किसी एक भूभागविशेष में बसा हो और उसकी जाति भी एक ही हो, तो उसकी राष्ट्रचेतना में चार चाँद लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में अपने भूभाग तथा अपनी जाति की रक्षा के लिए भी उस जनसमुदाय में राष्ट्र-चेतना तरंगित हो उठती है। यहाँ यह याद रखना परम आवश्यक है किसी भी जनसमुदाय को 'राष्ट्र' के रूप में परिणत होने के लिए राजनैतिक प्राप्ति की सामूहिक एवं अदम्य भावना तथा उसे सफल करने के लिए वैदेशिक सरकार को हटाने के लिए किया जाने वाला अनवरत संघर्ष ही पर्याप्त है।[२३]

राष्ट्रियता

कोशकारों की दृष्टि में राष्ट्रियता

वाचस्पत्य और शब्दकल्पद्रुम तथा आप्टेकृत संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी में 'राष्ट्रिय' किंवा 'राष्ट्रीय' शब्द का तो संग्रह है, किन्तु 'राष्ट्रियता' किंवा 'राष्ट्रीयता' शब्द का नहीं। सर एम० मोनियर विलियम द्वारा संकलित संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी में यह शब्द नहीं मिलता है। किन्तु इंगलिश भाषा में इसी के सर्वसम्मत पर्यायवाची 'नेशनलिटी' शब्द का अर्थ विलियम महोदय ने ही अपने इंगलिश-संस्कृत डिक्शनरी नामक दूसरे कोशग्रन्थ में 'स्वदेशाभिमानता', 'स्वलोकाभिमान' और 'स्वराष्ट्राभिमान' किया है।[२४]

---

२३. प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, पृ० ७-८.

२४. सर एम० मोनियर विलियम, इंग्लिश संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ५२६.

बृहत् हिन्दी कोश में राष्ट्रीयता (राष्ट्रियता) शब्द का अर्थ 'किसी राष्ट्र का नागरिक होने का भाव', 'राष्ट्रप्रेम' तथा 'देशभक्ति' किया गया है।[२५]

मानक हिन्दी कोश में इस शब्द का दो प्रकार से व्याख्यापरक अर्थ किया गया है : (क) राष्ट्रीय अर्थात् राष्ट्र के अंग या सदस्य होने की अवस्था, धर्म या भाव; (ख) ऐसी धारणा या भावना कि हमें आपसी मत-भेद, वैर-विरोध आदि भूलकर सारे राष्ट्र की समान उन्नति, रक्षा, समृद्धि, सुरक्षा आदि का ध्यान रखना चाहिए।[२६]

राजनीतिशास्त्रियों की दृष्टि में राष्ट्रीयता

'राष्ट्रियता' शब्द को लेकर राजनीतिशास्त्र के मनीषियों में थोड़ा मतभेद प्रतीत होता है। क्योंकि कुछ चिन्तकों द्वारा निर्धारित की गई 'राष्ट्रियता' शब्द की परिभाषाएँ 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषाओं से मेल खा जाती हैं, जिससे उनमें अतिव्याप्ति तथा भ्रान्तिजनकता का दोष आ जाता है। यही कारण है कि कुछ चिन्तक 'राष्ट्रियता' की परिभाषा करने में निश्शङ्क नहीं हो पाते हैं। फिर भी इन विद्वानों द्वारा की गई परिभाषाओं से 'राष्ट्रियता' शब्द का पर्याप्त मात्रा में भावबोध हो जाता है। उदाहरणार्थ कतिपय परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :-

(क) "It is a sentimental political concept directly related to the struggle for power, which respects the individuality of the states, recognises the varieties in law and Government, and segregates group from group on the basis of common core of ideals and beliefs".

—C. D. Burns

(यह)(राष्ट्रीयता) एक भावात्मक राजनैतिक धारणा है, जो सत्ता हेतु संघर्ष से सीधा सम्बन्ध रखती है, राज्य की वैयक्तिकता का सम्मान करती है, कानून और शासन की विविधता को मान्यता प्रदान करती है और सामान्य आदर्शों एवं विश्वासों के आधार पर एक समूह को दूसरे समूह से पृथक् करती है।

(ख) "Nationality is a spiritual sentiment or principle arising among a number of people usually of the same

---

२ण. बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ११५२.

२६. मानक हिन्दी कोश, पृ० ५०६.

race, resident on the same territory, sharing a common language, the same religion, similar history and traditions, common interests, with common political associations and common ideas of political unity."

—R. N. Gilchrist

(राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना अथवा सिद्धान्त है, जिसका प्रादुर्भाव ऐसे मनुष्यों में होता है जो साधारणतया एक जाति के होते हैं, एक ही भूभाग पर निवास करते हैं, जिनकीएक सर्वसामान्य भाषा होती है, एक धर्म होता है, इतिहास तथा परम्पराएँ मिलती-जुलती होती हैं, समान हित होते हैं तथा जिनकी राजनैतिक परिषदें समान होती हैं और राजनैतिक एकता की भावनाएँ भी समान होती हैं।)

(ग) "Nationality to me is not a political question at all. It is primarily and essentially a spiritual question. Nationality like religion is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way of feelings, thinking and living."

—Zimmern, Nationality and Government, p. 59.

(मेरे विचार से राष्ट्रीयता एक राजनैतिक प्रश्न विल्कुल नहीं हैं। यह मुख्यरूप से तथा अनिवार्य रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता, धर्म की भाँति ही, आत्मचेतनानिष्ठ है; मनोवैज्ञानिक है; एक मनोदशा है; एक आध्यात्मिक सम्पदा है; और अनुभव करने, चिन्तन करने तथा जीवन-यापन करने की पद्धति है।)

(घ) "A Nationality is a population held together by certainties, as for example, language and literature, ideals, customs and traditions, in such wise as to feel itself a coherent unity distinct from other populations similarly held together by like ties of their own."

—Lord Robert Bryce, Impressions of South Africa. p. 33

(राष्ट्रीयता का तात्पर्य एक ऐसी आवादी से है जो भाषा, साहित्य आदर्शों, रीतियों, पौराणिक परम्पराओं आदि की निश्चितताओं के कारण परस्पर इस प्रकार आबद्ध रहती है कि आपस में एक

आन्तरिक एकता का अनुभव करती है और उन दूसरी आवादियों से, जो ठीक उसी की तरह अपनी निजी समानताओं से आवद्ध होती हैं, पृथक् होती है।)

(ङ) "………the people feeling sense of uniqueness and unity………are………merely nationality."

—Gurumukh Nihal Singh, Fundamentals of Political Science and Organisation, p. 45

(अपने में अनोखेपन और एकता की भावना रखने वाला जनसमूह केवल एक 'राष्ट्रीयता' है।)

(च) "राष्ट्रीयता की निश्चित परिभाषा करना कठिन है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक गतिविधि में यह पृथक् अस्तित्व की उस चेतना की प्रतीक हैं जो सामान्य आदतें, परम्परागत रीतिरिवाज, स्मृतियों, आकांक्षाओं, कुछ अवर्णनीय सांस्कृतिक सामान्यताओं और हितों पर आधारित है।" —डॉ० वेनी प्रसाद

(छ) "कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीयता की व्याख्या राज्य की सदस्यता के रूप में की जाती है और तात्त्विक दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीयता को वह एकानुभूति समझा जाता है जो भौगोलिक, ऐतिहासिक, नस्ल सम्वन्धी, सांस्कृतिक तथा अन्य ऐसे ही वन्धनों से उत्पन्न होती है"।

—पुखराज जैन, राजनीतिविज्ञान के सिद्धान्त, पृ० सं० २२

(ज) "राष्ट्रीयता या Nationality शब्द राष्ट्र शब्द की भाववाचक संज्ञा है, जिसका अर्थ है जनसमुदाय की समूहचेतना (Group consciousness)। इसके अन्तर्गत कई तत्त्व शामिल हैं, यथा एक जनसमूह का होना, उस जनसमूह के मध्य भौगोलिक एकता तथा सामूहिक सुरक्षा की भावना का होना तथा समूह के सब व्यक्तियों में विचार-साम्य होना। इस प्रकार की एकता की भावना से युक्त जनसमुदाय की सामूहिक चेतना राष्ट्रीयता कहलाती है।"

—डॉ० जी०डी० तिवारी, 'आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ', पृ० २४५

विश्लेषण

'राष्ट्रियता' शब्द के अर्थ के विषय में कोशकारों में न तो कोई विसंवाद है और न कोई भ्रान्ति। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गये सभी अर्थ स्पष्ट हैं।

मानक हिन्दी कोश में प्रस्तुत अर्थ तो अपने आप में पर्याप्त व्यापकता भी लिए हुए है। किन्तु राजनीतिशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ केवल एक अंश में वैमत्यपूर्ण हैं; और उस वैमत्य का आधार 'राष्ट्रियता' के लिए राजनैतिक चेतना की आवश्यकता अथवा अनावश्यकता का विचार है। इस तत्त्व को लेकर राजनीतिशास्त्र के चिन्तकों में दो वर्ग बन गए हैं; जिनमें एक वर्ग की मान्यता है कि 'राष्ट्रियता' के लिए जनसमूह के सदस्यों में राजनैतिक चेतना होनी चाहिए। प्रसिद्ध चिन्तक सी० डी० बर्न्स एवं आर० एन० गिलक्राइस्ट इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं[२७] दूसरे वर्ग की धारणा है कि 'राष्ट्रियता' की चेतना के लिए राजनैतिक चेतना की कोई भी आवश्यकता नहीं होती है। इसके बिना भी कोई जनसमुदाय अपने में 'राष्ट्रियता' की भावना को सुरक्षित रख सकता है। श्री जिमर्न, लार्ड रॉबर्ट ब्राइस, श्री गुरुमुख निहालसिह, डॉ० बेनीप्रसाद, श्री पुखराज जैन और डॉ० जी० डी० तिवारी इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं[२८]।

वास्तव में देखा जाय तो द्वितीय वर्ग के चिन्तकों का ही चिन्तन समुचित है। क्योंकि यदि प्रथम वर्ग के चिन्तकों के अनुसार 'राजनैतिक चेतना' को भी 'राष्ट्रियता' के लिए अपेक्षित मानते हैं तो यह परिभाषा 'राष्ट्र' के लिए भी चरितार्थ होकर अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाएगी तथा 'राष्ट्र' एवं 'राष्ट्रियता' के स्वरूपों में भेद की प्रतीति असम्भव होने लगेगी। क्योंकि 'राष्ट्र' एवं 'राष्ट्रियता' में यदि कोई भेदक रेखा है तो वह है 'राजनैतिक चेतना'। राजनीतिशास्त्र के अनेक मनीषियों की आज यह धारणा बन चुकी है कि राजनैतिक स्वातन्त्र्यप्राप्ति की चेतना के पनपते ही जनसमूह 'राष्ट्र' की संज्ञा पा लेता है[२९]।

---

२७. प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, पृ० सं० २२-२३.

२८. प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, पृ० सं० २२-२४.

२९. (क) "Nationality is a population held together by certainties, as for example, language and literature, ideals, customs and traditions, in such wise as to feel itself a coherent unity distinct from other populations similarly held together by like ties of their own, a nation is a nationality which has organised itself into a political body either indepen-

हमारा विचार है कि जब कोई जनसमूह अपनी सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक व्यवस्था, भौगोलिक उपलब्धियों, ऐतिहासिक घटनाओं, धार्मिक आस्था, दार्शनिक विचारधारा, साहित्यिक अभिरुचि आदि की एकता अथवा सदृशता के कारण आपस में एक आभ्यन्तरिक एकता तथा आत्मीयता की

---

dent or desiring to be independent,"

(Robert Bryce, Impressions of South Africa p. 33)

(ख) "Nationality to me is not a political question at all. (Zimmern, Nationality and Government, p. 59)

(ग) "......the distinction between nation and nationality may be said to turn upon whether the people feeling the sense of uniqueness, and unity (nationality) have become politically organised and independent or not; in case, they have done so, i. e. achieved 'Statehood', they are a Nation, if not, they are still merely a nationality.

(Gurumukh Nihal Singh, Fundamentals of Political Science and Organisation, p. 44-45)

(घ) "राष्ट्र एक राजनीतिक विचार है, परन्तु राष्ट्रीयता अपने मूल में एक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विचार है।"

—पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, पृ० सं० ३३.

(ङ) "......राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता में एक मौलिक भेद यह है कि राष्ट्र के अन्तर्गत जनसमूह में अपने पृथक् तथा स्वतन्त्र अस्तित्व की एक सुदृढ भावना वर्तमान रहती है। यह भावना उसे राजनीतिक स्वरूप प्रदान करती है। अत एव राष्ट्र शब्द जनसमुदाय में राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सम्प्रभुता की धारणा का प्रतीक है; जबकि राष्ट्रीयता अराजनीतिक चेतना है। एक जनसमुदाय के मध्य राष्ट्रीयता की भावना तब भी विद्यमान रहती है, जबकि वह राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र न हो और उसमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भावना भी न हो, परन्तु ज्योंही किसी एक जनसमूह में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भावना उत्पन्न हो जाती है या वह जनसमूह राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है, त्योंही उसे एक राष्ट्र की संज्ञा प्रदान की जाती है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में भी भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की भावना विद्यमान थी। जब यही भावना बलवती होकर जनता को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने लगी तो भारत एक राष्ट्र कहलाने लगा।"

(डा० जी० डी० तिवारी, आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, पृ० २४५)

अनुभूति करता हो तथा संवेदनशील रहता हो तो समझना चाहिए कि वह जनसमूह अपने आप में एक 'राष्ट्रियता' की भावना से युक्त है। यह भावना स्वत: सम्भूत होती। इसके लिए कोई संवैधानिक सगठन नहीं होते हैं। इसकी आधारशिला अन्तरात्मा की आवाज होती है। यह महत्त्वपूर्ण तो इतनी है कि यदि यह नहीं हो तो कोई भी जनसमूह कभी भी न तो 'राष्ट्र' बन सकता है, और न सम्प्रभुतासम्पन्न 'राज्य'। वस, परस्पर परकीयता के दुर्भाव से ग्रस्त और छिन्न-भिन्न होता हुआ वह सदैव कुण्ठा एवं हीन भावना से अभिभूत वना रहेगा। इससे यह भी सिद्ध है कि 'राष्ट्र' का शिलान्यास 'राष्ट्रीयता' की ही भूमि पर होता है।

राष्ट्रिय भावना

अपने राष्ट्र की भूमि, जनसमूह, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति, जीवनदर्शन आदि के प्रति लोगों के मन में गरिमा एवं महिमा का जो एक नैसर्गिक स्वाभिमान हुआ करता है उसे ही हम 'राष्ट्रियभावना' की सज्ञा देते हैं। यही वह भावना है जिसके वशीभूत होकर लोग अपने राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व भी न्योछावर कर देते हैं। यदि राष्ट्र परतन्त्र हुआ तो उसे स्वतन्त्र कराने के लिए लोग सीने पर गोली या गले में फाँसी के फन्दे की जरा भी परवाह नहीं करते हैं और जव तक राष्ट्र को विदेशी शासकों के चंगुल से आजाद नहीं करा लेते तब तक चैन की नींद नहीं सोते। इस अविस्मरणीय एवं रोमांचकारी वलिदान के पीछे जो एक प्रवल एवं अदम्य भावना काम करती है, वह 'राष्ट्रियभावना' ही होती है। इसी प्रकार अपने स्वतन्त्र राष्ट्र पर यदि कोई दूसरा राष्ट्र आक्रमण करता है तो अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए समूचा राष्ट्र तन-मन-धन से सनद्ध हो जाता है। उस समय आवालवृद्ध नर-नारियों में अपने राष्ट्र, अपने देश किंवा अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए एक अदम्य भावना उमड़ पड़ती है; वे अपने पारस्परिक मतभेदों को भूलकर सर्वात्मना एकजुट होकर राष्ट्र के शत्रु का डटकर मुकावला करते हैं; वृद्ध माता-पिता अपने बुढ़ापे के सहारे की आशा त्यागकर अपने तरुण पुत्रों को युद्धक्षेत्र में भेज देते हैं; पत्नियाँ अपने सिन्दूर की परवाह न करके अपने प्राणप्रिय पतियों को मातृभूमि की रक्षा के लिए विदा करती हैं; और वहनें अपनी राखी को खतरे में डालकर अपने सहोदर भाइयों को देश की रक्षा के लिए भावभीनी विदाई देती हैं। अपने देश की

अखण्डता और मान-मर्यादा की रक्षा के लिए ये बहादुर सैनिक सपूत अपने प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं। साथ ही देश के कोने-कोने में अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न होने लगते हैं। अपनी सेनाओं का मनोबल ऊँचा बनाए रखने के लिए राष्ट्र के सभी वर्गों के लोग उनके साहस एवं शौर्य के गीत गाते नहीं थकते। अहर्निश उनकी विजय का सन्देश सुनने के लिए कान लगाए रहते हैं। इन दिनों कवियों के काव्यों, लेखकों के लेखों, उपदेशकों के उपदेशों और गीतकारों के गीतों में अपनी मातृभूमि, अपने देश और अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए अपना तन-मन-धन न्यौछावर करने की जोशीली आवाज गूँजने लगती है। सम्पूर्ण राष्ट्र सिंहनाद कर उठता है और स्वाभिमान से भर जाता है। लोग स्वार्थ की संकीर्ण सीमाओं को तोड़कर अपने राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा हेतु एक अभेद्य एकता को अपना लेते हैं। कहना होगा कि राष्ट्र के लिए आत्मोत्सर्ग के इस रोमांचकारी वातावरण की सर्जना के पीछे जिस प्रबल भावना की प्रेरणा हुआ करती है, वह 'राष्ट्रियभावना' ही होती है। भारतराष्ट्र की स्वतंत्रता एवं रक्षा हेतु पृथ्वीराज, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, हमीर, वीर सिपाही मङ्गल पाण्डेय, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, वीर भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद, वीर सावरकर, खुदीराम, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गान्धी, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं० जवाहरलाल नेहरू, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि असंख्य राष्ट्रप्रेमी महापुरुषों द्वारा किए गए आत्मबलिदानों में उनकी अदम्य 'राष्ट्रियभावना' ही एकमात्र प्रेरिका रही है। क्योंकि यह एक ऐसी बलवती भावना है जिससे व्याप्त होकर मनुष्य अपने व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर अपने देश, अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा की रक्षा में मर-मिटते हैं। विदेशी राष्ट्र द्वारा अपने राष्ट्र पर किए गए आक्रमण के दिनों में यह भावना अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाती है। यही कारण है कि अपने देश की रक्षा में सैनिक एवं सेनानी अपने प्राणों की भी बाजी लगाकर विजय प्राप्त करने की उत्कट कामना रखते हैं। उस समय वे अपने राष्ट्र की ठीक उसी प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार शत्रुओं द्वारा प्रताड़ित की जा रही अपनी माता की रक्षा उसके पुत्र किया करते हैं। यही कारण है कि राष्ट्रभक्ति और मातृभक्ति में समानता मानी गई है।

प्रस्तुत विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में हम कह सकते हैं कि अपने राष्ट्र की

भूमि, जनता, संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, धर्म, साहित्य, कला, राजनीति, जीवनदर्शन आदि के प्रति लोगों के मन में गरिमा एवं महिमा का जो एक नैसर्गिक स्वाभिमान रहा करता है; और जिसकी प्रबल प्रेरणा से अपने राष्ट्र की भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पदा की रक्षा हेतु एक अदम्य एवं क्रियाशील नैष्ठिक भाव सदैव जागरूक रहता हैं; तथा जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र अनेकता में भी एकता की एक अभेद्य एवं हार्दिक अनुभूति करता रहता है; जिससे प्रेरित होकर लोग अपने राष्ट्र को स्वर्ग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसकी उपमा माता से देते हैं, वह निश्चितरूप से 'राष्ट्रियभावना' ही है।

यहाँ यह लिख देना अनुचित और अप्रासंगिक न होगा कि शुद्ध 'राष्ट्रिय-भावना' लोगों में जहाँ अपने राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान की भावना भरती है और अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए आत्मवलिदान तक की प्रेरणा देती है वहाँ वह किसी अन्य राष्ट्र का अपमान करने की प्रेरणा स्वप्न में भी नहीं देती। वह तो 'जियो और जीने दो', 'फूलो-फलो और फूलने-फलने दो' की 'अन्ता-राष्ट्रियभावना' की पोषिका होती है। क्योंकि वह अपनी रक्षा करना सिखाती है, न कि दूसरों पर आक्रमण करना। उसमें स्वाभिमान होता है न कि अभिमान। वह न तो किसी अन्य राष्ट्र का अपमान करती है और न अपना अपमान सहन करती है। इस प्रकार की शुद्ध 'राष्ट्रीयभावना' 'अन्ता-राष्ट्रियभावना'की भी पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देती है। हमारे भारतवर्ष में अभिव्याप्त 'राष्ट्रियभावना' ऐसी ही शुद्ध 'राष्ट्रियभावना' है।

यदि किसी 'राष्ट्रियभावना' में दूसरे राष्ट्र के लिए हीनता, हेयता और घृणा के दुर्भाव अन्तर्निहित हो जाते हैं तो वह न केवल अपने राष्ट्र के लिए ही, अपितु विश्वमानवसमुदाय के लिए संकट उत्पन्न कर देती है। अतः ऐसी राष्ट्रियभावना, जो अन्य राष्ट्रों के प्रति हीनता और घृणा के संकीर्ण तथा अमानवीय दुर्भावों को प्रोत्साहित करे, सर्वथा निन्दनीय एवं त्यजनीय मानी गई है।

राजनीतिशास्त्र के मनीषियों ने राष्ट्रियभावना के लिए अंग्रेजी भाषा में 'नेशनलिज्म' और हिन्दीभाषा में 'राष्ट्रवाद' का प्रयोग किया है। किन्तु नेशनलिज्म शब्द के 'इज्म' अंश और 'राष्ट्रवाद' शब्द के 'वाद' अंश में दूसरे राष्ट्रों की राष्ट्रियभावनाओं को आघात पहुँचाने की तथा अपने से तुलना करके उन्हें हीन सिद्ध करने की एक अहम्मूलक, बौद्धिक, प्रच्छन्न एवं क्षीण दुर्भावना का हल्का सा आभास बुद्धिगोचर होता है। अतः हमने इन शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'नेशनल फीलिंग' और 'राष्ट्रियभावना' जैसे शब्दों का ही

प्रयोग किया है; जिसमें प्रयोक्ता के हृदय की सात्त्विकता तो होती है, पर उसकी बुद्धि का गर्व नहीं। क्योंकि हम चाहते हैं कि विश्व के किसी भी राष्ट्र के लोग अपने अन्दर अहङ्कारमूलक नेशनल 'इज्म' या राष्ट्र के 'वाद' को न पनपाएँ, बल्कि एक ऐसी सात्त्विक और शुद्ध 'राष्ट्रियभावना' अपने मन में बसाएँ जो आत्मसम्मान की तो अभिव्यंजना हो, पर दूसरे राष्ट्र का अपमान करने की किंचिन्मात्र भी प्रेरणा न देती हो। इसका परम लाभ यह होगा कि विश्व के अन्तार्राष्ट्रिय मानवसमुदायों में संघर्ष नहीं होगा और उनमें सुख-शान्ति रह सकेगी। स्पष्ट है कि यह भाव न तो 'नेशनलिज्म' शब्द में है और न 'राष्ट्रवाद' शब्द में। किन्तु 'राष्ट्रियभावना' शब्द में यह भाव उच्छलित होता हुआ अनुभूत होता है।

प्रस्तुत विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में 'राष्ट्रियभावना' के कतिपय मौलिक तत्त्वों का निर्धारण भी सहज में ही हो जाता है, जो इस प्रकार हैं :—

(क) राष्ट्र की भौगोलिक सीमा की सर्वात्मना सुरक्षा एवं रक्षा करने की भावना।

(ख) राष्ट्र के प्रति सर्वाधिक प्रेमभावना।

(ग) राष्ट्र की भौतिक, सांस्कृतिक तथा अध्यात्मिक सम्पदा के प्रति आत्मीयता एवं स्वाभिमान की दृढ़ भावना।

(घ) राष्ट्र के विकास में निष्ठा।

(ङ) राष्ट्र के किसी भी क्षेत्रविशेष किंवा जनसमूह विशेष की प्राकृतिक विपत्ति को अपनी विपत्ति मानकर उसका यथाशक्ति तन-मन-धन से निराकरण करना।

(च) राष्ट्र की गरिमा एवं महिमा को प्रतिष्ठित बनाए रखने की अदम्य भावना।

(छ) किसी अन्य राष्ट्र के प्रति हीनता एवं घृणा का भाव न रखना।

(ज) अन्ताराष्ट्रियभावना के प्रचार-प्रसार में क्रियाशील आस्था रखना।

राजा

भारतवासियों के लिए यह शब्द सुपरिचित है। अतः इसकी व्याख्या में विस्तार की आवश्यकता प्रतीत नहीं प्रतीत होती। 'राजते इति राजा' इस अर्थ के परिप्रेक्ष्य में यह शब्द दीप्त्यर्थक अर्थात् शोभार्थक 'राजृ' धातु से

औणादिक 'कनिन्' प्रत्यय के संयोग से सिद्ध होता है[30], जिसका भाव है कि वह व्यक्ति जो शोभासम्पन्न है, राजा कहलाता है। किन्तु केवल इतनी ही व्युत्पत्ति अतिव्याप्ति के दोष से मुक्त न रह सकेगी। अतः 'राजा' शब्द के वास्तविक अर्थवोध के लिए उसके प्रमुख कार्य को भी दृष्टि में रखना होगा। यह सर्वसम्मत तथ्य है कि राजा का प्रमुख कार्य, प्रमुख ध्येय अपनी प्रजा का 'रंजन' करना होता है। अर्थात् अपनी प्रजा को सर्वविध सुख, समृद्धि, शान्ति, सुरक्षा, रक्षा, निश्चिन्तता आदि के अपेक्षित एवं वैध अवसर प्रदान करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य होता है। ऐसा करके ही वह अपनी प्रजा में अपनी राज्यसत्ता एवं अपने व्यक्तित्व को श्रद्धेय तथा लोकप्रिय बना सकता है और 'राजा' पद को सार्थक कर सकता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से वाचस्पत्यकार ने 'राजा' की व्युत्पत्ति 'रंजयति' पद से भी की है।[31] विष्णुपुराण[32], पद्मपुराण[33], और रघुवंश[34] में भी राजा की प्रजारंकता का प्रामुख्य प्रकट किया गया है। 'प्रजारंजन' के साथ 'प्रजाशासन' भी राजा का अनिवार्य कार्य होता है। साथ ही अपने राज्य की भूमि का सर्वतोभावेन रक्षण करना भी राजा का अपरिहार्य कार्य माना गया है। यही कारण है कि 'राजा' शब्द के जितने भी पर्यायवाची शब्द मिलते हैं[35] उनमें

---

३०. 'कनिन्यु-वृषि-तक्षि-राजि-धन्विद्यु-प्रतिदिवः'।

(सिद्धान्तकौमुदी, उणादि प्रकरण, १/१५४.)

३१. वाचस्पत्यम्, भाग ६, पृ० ४८०२

३२. पित्रापरंजितास्तस्य प्रजास्तेनानुरंजिताः ।
अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजेत्यभाषत ॥

(विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय १३)

३३. राज्ञां चैवाधिकारे वै पृथुर्वैण्यः प्रतापवान् ।
तदा पित्रा प्रजाः सर्वाः कदा नैवानुरंजिताः ॥
तेनानुरंजिताः सर्वा सुखैर्मुमुदिरे तदा ।
अनुरागात्तस्य वीरस्य नाम राजेत्यभाष्यतः ॥

(पद्मपुराण, भूखण्ड, अध्याय २६)

३४. यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरंजनात् ॥

(कालिदास, रघुवंश, ४।१२)

३५. "नृपतिः, नृपः, नरपतिः, भूपतिः, भूपः, भूपालः, महीपतिः, ·········पृथिवीपपतिः, पृथिवीपालः, भूमिपः, भूमिपतिः, ·········नरेश्वरः, नराधिपः, नरेशः, नरेन्द्रः, प्रजेश्वरः, ·········अवनीशः, अवनीश्वरः, क्षितीशः, क्षितीश्वरः········· ।"

(सर एम० मोनियर विलियम, इंगलिश-संस्कृत डिक्शनरी, पृ० ४२७)

अधिकांश शब्दों का अर्थ केवल निम्नलिखित रूपों में ही निकलता है :—

(क) 'मनुष्यों की रक्षा करने वाला,

(ख) 'मनुष्यों पर शासन करने वाला',

(ग) 'पृथ्वी की रक्षा करने वाला' तथा

(घ) 'पृथ्वी पर शासन करने वाला'।

कहना न होगा कि इन अर्थों में चतुर्थ अर्थ लाक्षणिक है। अतः उसका लक्ष्यार्थ 'पृथ्वी पर रहने वालों (मनुष्यों) पर शासन करने वाला' लिया जाता है। स्पष्ट है कि मनुष्यवाचक अथवा पृथ्वीवाचक शब्दों के आगे रक्षणार्थक (पालनार्थक) किंवा शासनार्थक शब्दो को संयुक्त करके 'राजा' शब्द के अधिकतर पर्यायवाची शब्दों की सर्जना की गई है।

वास्तव में देखा जाय तो राजा का राजत्व अपनी प्रजा का आत्मीयता-पूर्वक पालन करने, न्यायपूर्वक शासन करने, उदारतापूर्वक विकास करने, बुद्धिपूर्वक आन्तरिक शत्रुओं का शमन करने, सतर्कतापूर्वक सुरक्षा करने एवं निर्भीकतापूर्वक बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने में ही चरितार्थ होता है। इस दृष्टि से देखने पर विदित होता हैं कि 'राजा' में केवल शोभा का ही नहीं, अपितु शील और शक्ति का भी निवास होता है। राजा के शरीर में शील शक्ति एवं सौन्दर्य के इस अद्‌भुत संगम का अनुभव करके ही शायद मनु ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र एवं कुबेर के अंशों के समुदाय से राजा के शरीर के निर्माण की अवधारणा बनाई होगी।[३६]

राजा के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के इस प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि जो किसी भूभागविशेष में रहने वाली जनता पर शासन करता हो, उसे अपने नियन्त्रण में रखता हो, उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए व्यवस्थाएँ करता हो, चोरों, लुटेरों और डकैतों से उसकी सुरक्षा करता हो, उसके पारस्परिक कलहों का न्यायपूर्वक निर्णय करता हो, जिसका परम्पराप्राप्त

---

३६. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥

(मनुस्मृति, ७/३-५)

अथवा भुजबलार्जित राजसिंहासन पर विधिवत् अभिषेक और तिलक हुआ हो, जिसका अपना दुर्ग हो, अपना कोश हो, अपनी सेना हो, अपना न्यायालय हो. अपना मन्त्रिमण्डल हो, अपनी कार्यपालिका हो, अपनी सम्प्रभुता हो और जो अन्य राजाओं द्वारा किए गए आक्रमणों से अपने राज्य की जनता तथा भूमि की रक्षा करता हो, ऐसे तेजस्वी व्यक्ति को 'राजा' कहते हैं।

राज्य

शब्दशास्त्रियों ने राजा के भाव अथवा कार्य को राज्य कहा है।[३७] शब्दकल्पद्रुमकार ने शब्दरत्नावली के आधार पर नीवृत्, मण्डल, जनपद, देश, प्रदेश, विषय, राष्ट्र और उपवर्त्तन जैसे शब्दों को 'राज्य' शब्द के पर्यायवाची शब्दों की सूची में गिना है तथा वरदातन्त्र के अनुसार राज्य की जनसंख्या एक लाख तक बताई है।[३८]

'बृहत् हिन्दी कोश' में 'राज्य' शब्द के अर्थ के लिए 'शासन, एक राजा या राजपद्धति का देश (जैसे—ईरान, रूस आदि); मण्डल, राष्ट्र, देश और विषय' लिखा मिलता है।[३९] मानक हिन्दी कोश में 'राज्य' शब्द का अर्थ आधुनिक परिवेश को भी दृष्टि में रखकर किया गया है; यथा—राजा का काम, शासन, वह क्षेत्र जिस पर किसी राजा का शासन हो। जैसे—नेपाल या भूटान राज्य, आजकल निश्चित सीमाओं वाला वह भूखण्ड जिसकी प्रभुसत्ता उसके निवासियों में ही निहित हो, किसी संघराज्य की कोई इकाई·········।[४०]

कोशकारों ने 'राज्य' शब्द का अर्थ यद्यपि पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया है, किन्तु वे इसकी सर्वाङ्गीण रूपरेखा प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यह काम राजनीतिशास्त्रियों ने किया है। अतः यह उचित होगा कि उनमें से कतिपय प्रमुख मनीषियों द्वारा निर्धारित की गई 'राज्य' की मान्य परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जाएँ।

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू, सिसरो, ब्लण्टश्ली, वुडरोविल्सन और बरगेस द्वारा निर्धारित राज्य की परिभाषाओं को आज मान्यता नहीं मिल

---

३७. काशिका, ६।४।१६८

३८. शब्दकल्पद्रुम, भाग ४, पृ० १३०

३९. बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ११४६

४०. मानक हिन्दी कोष, पृ० ४६८

रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन परिभाषाओं में 'राज्य' के स्वरूपाधायक तत्त्वों की कमी है। क्योंकि अरस्तू और सिसरो ने नैतिकता के व्यामोह में 'राज्य' के भूभाग, सरकार और सम्प्रभुता जैसे तीन-चौथाई तत्त्वों की उपेक्षा की है। इसी प्रकार ब्लण्टश्ली, वुडरोविल्सन और बरगेस भी 'सम्प्रभुता' नामक तत्त्व, जो 'राज्य' का प्राणतत्त्व है, को छोड़ देने की भूल कर बैठे हैं। राजनीतिशास्त्र के अर्वाचीन पाश्चात्य चिन्तक विलोवी और एच० जे० लास्की द्वारा की गई राज्य की परिभाषाओं में यद्यपि 'राज्य' के सभी तत्त्वों (जनसमुदाय, भूभाग, सरकार और सम्प्रभुता) का समावेश है, किन्तु उनमें भी 'राज्य' की बाह्य सम्प्रभुता पर प्रकाश नहीं डाला गया है। अतः उन्हें भी मुक्तकण्ठ से सम्पूर्ण मान्यता नहीं मिल सकी है। इस सन्दर्भ में राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में आज जिन तीन मनीषियों के नाम निर्विवाद रूप से लिए जाते हैं, वे हैं सर्वश्री गिलक्राइस्ट, गार्नर और फिलिमोर। इनके द्वारा निर्धारित की गई राज्य की परिभाषाओं को आज के राजनीतिशास्त्रियों ने सर्वाङ्गपूर्ण बताकर स्वीकृत कर लिया है। अतः हम भी अरस्तू, सिसरो, ब्लण्टश्ली, वुडरोविल्सन, बरगेस, विलोवी और लास्की द्वारा निर्धारित किन्तु अपूर्ण 'राज्यपरिभाषाओं' के उद्धरण का व्यर्थ लोभ न करके केवल गिलक्राइस्ट, गार्नर और फिलिमोर कृत, साथ ही सर्वसम्मत, राज्यपरिभाषाओं को ही यहाँ प्रस्तुत करेंगे, जो इस प्रकार है :—

(a) The State is a concept of political science which exists where a number of people living on a definite territory, are unified under a Government which in internal matters is the organ for expressing their soverignity and in external matters is independent of other Government.[४१]

(राजनीतिविज्ञान में राज्य वह है जहाँ कुछ लोग एक सुनिश्चित भूभाग पर निवास करते हुए एक सरकार के अधीन संगठित हों, उनकी वह सरकार आन्तरिक मामलों में अपनी सम्प्रभुता प्रकट करती हो, और बाह्य (अन्ताराष्ट्रिय) मामलों में किन्हीं दूसरी सरकारों से स्वतन्त्र हो।)

---

४१. R. N. Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 7.

(b) State as concept of political science and public law, is a community of Persons more or less numours, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience.[४२]

(राजनीतिविज्ञान और सार्वजनीन कानून की धारणा के अनुसार अधिक या कम संख्या वाले व्यक्तियों के उस समुदाय को राज्य कहते हैं जो किसी सुनिश्चित भूभाग पर स्थायी निवास कर रहा हो, बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो और जिसकी एक ऐसी सुगठित सरकार हो जिसके आदेशों का अनुपालन उसके सभी निवासी स्वाभाविक रूप से करते हों।)

(c) A people permanently occupying a fixed territory, lived together by common laws, habits and customs in one body politic exercised through the medium of an organised Government, independent soverignity and control over all persons and things within its boundaries, capable of making war and peace and of entering into all international relations with the communities of the globe[४३].

(राज्य वह जनसमूह है जो किसी निर्धारित भूभाग पर स्थायी रूप से निवास कर रहा हो, जो राजनैतिक सिद्धान्त के रूप में एक सुगठित सरकार द्वारा सामान्य नियमों आदतों और व्यवहारों में परस्पर संश्लिष्ट हो, जिसकी सरकार का अपनी सीमा के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों तथा वस्तुओं पर सम्प्रभुत्व और नियन्त्रण हो और जो संसार के किसी भी राज्य के साथ युद्ध, मैत्री तथा अन्य किसी भी प्रकार के अन्ताराष्ट्रिय सम्बन्ध बनाने की क्षमता रखता हो।)

इन परिभाषाओं में 'राज्य' के चारों ही स्वरूपाधायक तत्त्व - जनसमूह, भूभाग, सरकार और सम्प्रभुता - समुचित रूप में उपलब्ध होते हैं। इन तत्त्वों

---

४२. J. W. Garner, Political Science and Government, p. 52.

४३. Philmore, International Law, p. 81.

को दृष्टि में रखते हुए 'राज्य' की जो सरल एवं सुबोध परिभाषा बन सकती है उसका स्वरूप कुछ इस प्रकार हो सकता है।—

यदि कोइ जनसमूह निर्धारित भूभाग पर स्थायी रूप से निवास करने लगता है और उसकी कोई ऐसी सुगठित एवं सम्प्रभुतासम्पन्न सरकार बन जाती है जो आन्तरिक (राष्ट्रिय) और वाह्य (अन्तराष्ट्रिय) मामलों में अपनी दृष्टि से निर्णय लेने में स्वतन्त्र होती है तो उसे 'राज्य' कहा जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रसांगिक और अनुचित न होगा कि उपर्युक्त परिभाषा यद्यपि आधुनिक राजनीतिविज्ञान के प्रकाश में निर्धारित की गई है, तथापि यह प्राचीन कुलपरम्पराप्राप्त राजतन्त्रात्मक 'राज्य' के भी अति निकट है। क्योंकि जनसमूह, भूभाग, सरकार और सम्प्रभुता—ये चारों ही तत्त्व प्राचीन काल के भी राज्यों में पाए जाते थे। अन्तर केवल इतना है कि उस समय 'राज्य' का 'सम्प्रभुता' नामक तत्त्व राजवंशपरम्पराप्राप्त मूर्धाभिषिक्त राजसिंहासनारूढ़ राजपदविभूषित व्यक्तिविशेष में ही निहित रहता था। फलस्वरूप उसकी आज्ञा सर्वोपरि समझी जाती थी। यदि इस भिन्नता के आधार पर 'राज्य' की ऐसी परिभाषा अभीष्ट हो जो तत्कालीन राजतन्त्रात्मक 'राज्य' के स्वरूप को उजागर करे तो कहा जा सकता है कि मूर्धाभिषिक्त राजसिंहासनारूढ़ वाह्याभ्यन्तरसम्प्रभुतासम्पन्न राजा का जिस भूभागविशेष और उसमें निवास करने वाली जनता पर अधिकार और शासन होता था, उसे उस राजा का 'राज्य' कहते थे।

उल्लेखनीय है कि हमारा शोध-प्रवन्ध उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के 'राज्यों' में निवास करने वाले राष्ट्रप्रेमी संस्कृत साहित्यकारों की साहित्य-सम्पदा में राष्ट्रियभावना के अनमोल मोतियों की गवेषणा करेगा।

राजभक्ति

आपाततः 'राजभक्ति' शब्द का अर्थ 'राजा के प्रति सेवाभाव' मात्र लिया जाता है, जो अति संकीर्ण है और 'राजभक्ति' शब्द की व्यापकता तथा उदात्तता को आघात पहुँचाता है। क्योंकि यह शब्द जनमानस में न केवल अपने 'राजा' के प्रति ही, अपितु उसके 'राज्य' के प्रति भी भक्ति की भावना भरे रहता है। भला 'राज्य' के प्रति भक्तिभाव रखे बिना 'राजा' के

प्रति भक्तिभाव हो ही कैसे सकता है ? और अपने 'राज्य' के प्रति आस्था न रखने वाले व्यक्ति को राजा अपना भक्त भला कैसे समझ सकता है ? उसकी दृष्टि में तो सच्चा 'राजभक्त' वही माना जाएगा जो उसके 'राज्य' की समृद्धि, सुरक्षा और रक्षा के लिए अपने धन, मन और तन को भी समर्पित करना चाहता हो। इसलिए 'राजभक्ति' शब्द अपने आप में 'राज्यभक्ति' की भी भावना को निहित किए हुए है। इतना ही नहीं, राज्यभक्ति में 'देशप्रेम' की भी सुगन्धि मिली रहती है। क्योंकि अपने राजा का 'राज्य' अपना 'देश' ही तो होता है। हमारा विश्वास है कि थोड़ा सा ध्यान देकर समझने से स्पष्ट हो जायगा कि जिस भूभागविशेष को राजा अपने 'राज्य' के नाम से जानता है, उसकी प्रजा के लिए वही उसका देश है और वही उसकी मातृभूमि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपना राजा, अपने राजा का 'राज्य' और अपना 'देश'—इन तीनों में एक अटूट सम्बन्ध है। अतः जन मानस में समाई हुई सच्ची राजभक्ति प्रकारान्तर से राज्यभक्ति और देशभक्ति की भी प्रतीक प्रतीत होती है, और इसीलिए 'राजभक्ति' शब्द का अर्थ न केवल अपने 'राजा' के ही प्रति, अपितु उसके 'राज्य' और अपने 'देश' के प्रति भी सेवा, निष्ठा और प्रेम का भाव रखना लेना चाहिए[४४]; ताकि 'राजभक्ति' शब्द 'राजा की चापलूसी' जैसे अपकृष्ट अर्थ की 'सड़ाँध' से बच सके।

राजतन्त्र

राजा के तन्त्र को 'राजतन्त्र' कहते हैं। यहाँ 'तन्त्र' शब्द शासन (गवर्नमेण्ट) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[४५] अतः 'राजतन्त्र' शब्द का शाब्दिक और सरल अर्थ होगा 'राजा का शासन'।

वास्तव में 'राजतन्त्र' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है और विश्व की शासनपद्धतियों में से अन्यतम शासनपद्धति के स्वरूप को अपने में निहित

४४. (क) बृहत् हिन्दी कोश, पृ० सं० ११४७.
(ख) मानक हिन्दी कोश, पृ० ४६५.

४५. (क) वामन शिवराम आप्टे, 'संस्कृत-हिन्दी कोश', सं० ४२०.
(ख) सर एम० मोनियर विलियम, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ४३६

किये हुए है। राजनीतिविज्ञान के चिन्तकों के अनुसार विश्व में समय-समय पर अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं, जिनमें राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, वहुतन्त्र, अधिनायकतन्त्र और प्रजातन्त्र (लोकतन्त्र) के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।[४६] कहने की आवश्यकता नहीं है कि शासन-पद्धतियों के संसूचक राजनीतिविज्ञान के ये सभी शब्द परिभाषिक हैं।

राजनीतिशास्त्रियों की धारणा के अनुसार हम कह सकते है कि 'राज-तन्त्र' शब्द एक ऐसी शासनपद्धति का बोधक है जिसमें प्रशासन की पूरी बागडोर राजा के हाथों में होती है। वह अपने राज्य का 'सर्वेसर्वा' (अधिपति) होता है और अपनी इच्छानुसार अपनी प्रजा का पालन और रक्षण करता है। प्रजा सर्वात्मना उसके अधीन होती है। प्राचीन भारतवर्ष में इसी प्रकार की शासनपद्धति प्रचलित थी।

प्रजातन्त्र

यह शब्द भी एक प्रकार की 'शासनपद्धति' का ही बोधक है। इसका शाब्दिक अर्थ है 'प्रजा का शासन'; अर्थात् ऐसी शासनपद्धति, जिसमें अपनी भलाई के लिए सम्पूर्ण प्रजा (जनता) वहुमत से निर्वाचित अथवा सर्वसम्पति से चयनित एक निश्चित संख्या में अपने लोगों को एक निश्चित अवधि के लिए अपने ऊपर शासन करने का राजनैतिक अधिकार प्रदान करती हैं। इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व होता है। राजनीति के मौलिक एवं क्रियाशील मनीषी तथा अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति श्री अब्राहिम लिंकन की लोकप्रिय शब्दावली में 'प्रजातन्त्र जनता का, जनता के लिए तथा जनता के द्वारा शासन' है।[४७] लार्ड ब्राइस नामक एक अन्य प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री के अनुसार 'प्रजातन्त्र' शासन का वह स्वरूप है जिसमें शासन की शक्ति किसी विशिष्ट वर्ग अथवा वर्गों में निहित नहीं होती, वल्कि जनसमूह के सदस्यों में सम्मिलितरूप से

४६. जी० एन० सिंह, 'फण्डामेण्टल्स आफ् पोलिटिकल साइन्स एण्ड आर्गेनाइजशन' पृ० १५७-१६०.

४७. 'Democracy is the Government of the people, for the people and by the people.'
—Abraham Lincoln.

निहित होती है'।[४८] इन दिनों अपने भारतवर्ष में यही शासनपद्धति चल रही है।

राष्ट्र एवं राजा में अन्तर

(क) राष्ट्र जनसमुदायविशेष के मन में समाई हुई अपनी सांस्कृतिक एकता की एक अमूर्त चेतना है, जबकि राजा उनके ऊपर शासन करने वाली शक्ति का सजीव मूर्त्तिमान् एवं सर्वोच्च स्वरूप है।

(ख) राष्ट्र जनसमुदाय की पारस्परिक एक 'समष्टिगत भावना' है, जबकि राजा मात्र एक 'व्यष्टि'।

(ग) राष्ट्र के लिए लोगों के दिल में स्वतः स्थान वन जाता है, जबकि राजा को इसके लिए वड़ा प्रयत्न करना पड़ता है।

(घ) राष्ट्र स्थायी ही होता है, जवकि राजा अस्थायी भी।

(ङ) राष्ट्र पर राजा का शासन होता है, न कि राजा पर राष्ट्र का।

(च) राष्ट्र के पास अपनी सत्ता की अनुभूति कराने के लिए कोई अधिकार नहीं होता, जबकि राजा, इस संदर्भ में सर्वाधिकारसम्पन्न होता है।

राष्ट्र एवं राज्य में अन्तर

किसी राष्ट्र को जव पूर्णतया राजनैतिक स्वतन्त्रता, प्रशासनिक अधिकार एवं वाह्याभ्यन्तरिक सम्प्रभुता प्राप्त हो जाती है तो वह राजनीतिशास्त्रियों की दृष्टि में 'राज्य' वन जाता है। फलस्वरूपः-

(क) राष्ट्र राजनैतिक सम्प्रभुता प्राप्त करने या सुरक्षित वनाए रखने की भावना का प्रतीक है, जवकि राज्य प्राप्त हुई उस सम्प्रभुता के उपयोग करने की एक संस्था है।

(ख) राष्ट्र एक भावना है, जवकि राज्य एक संस्था।

(ग) राष्ट्र एक स्वचालित मनःसंवेग है, जवकि राज्य का संचालन 'सरकार' नामक संगठन द्वारा होता है।

---

४८. "Democracy is that form of Government in which the ruling power is vested not in a particular class or classes but in the members of the community as a whole". —Lord Bryce

(घ) राष्ट्र चेतना के लिए भूभाग आवश्यक नहीं, जबकि राज्य के लिए यह परमावश्यक है।

(ङ) राष्ट्र का शासन केवल नैतिक होता है, जबकि राज्य का संवैधानिक।

यद्यपि राजनीतिशास्त्रियों ने बड़े विश्वास के साथ 'राष्ट्र' और 'राज्य' में अन्तर किया है, जैसा कि मैं ऊपर लिख भी चुका हूँ[४९], किन्तु देखा जाय तो इनमें आधारभूत भेद नहीं प्रतीत होगा। क्योंकि 'राष्ट्र' और 'राज्य'—ये दोनों ही किसी जनसमूह के स्तर को ही तो व्यक्त करते हैं। प्रथम स्तर में राजनैतिक बाह्याभ्यन्तरिक सम्प्रभुता को पाने के लिए संघर्ष चलता है और द्वितीय स्तर में वह उसके हाथ में होती है। प्रथम स्तर में उसे 'राष्ट्र' कहते है और द्वितीय स्तर में 'राज्य'। पर ये दोनों ही स्तर हैं तो उसी एक जनसमूह विशेष के। अत: 'राज्य' के स्तर को प्राप्त करने के बाद उस जनसमूह को न केवल 'राज्य' के नाम से ही, बल्कि 'राष्ट्र' के नाम से भी जाना जा सकता है; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार विद्वान् बनने के लिए स्वाध्याय करने वाले मनुष्य को विद्वान् बनने के बाद न केवल विद्वान् ही, बल्कि मनुष्य भी कहा और माना जाता है। हाँ, 'राष्ट्र' एवं 'राज्य' में यदि कोई भेद है, तो वह यह है कि 'राज्य' के स्तर के साथ 'राष्ट्र' का स्तर तो रहता ही है, किन्तु 'राष्ट्र' के स्तर के साथ यह आवश्यक नहीं कि 'राज्य' का भी स्तर रहे। क्योंकि 'राष्ट्र' राज्य के लिए संघर्ष करता है, अतः राज्यसत्ता की प्राप्ति के पूर्व भी उसकी सत्ता होती है; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कोई मनुष्य विद्वान् बनने के साथ-साथ मनुष्य भी बना रहता है, परं यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मनुष्य विद्वान् हो।

राष्ट्रियभावना एवं राजभक्ति में अन्तर

'राजभक्ति' शब्द की व्याख्या करने के प्रसंग में यह सुझाव दिया जा चुका है कि 'राजभक्ति' प्रकारान्तर से अपने में 'राज्यभक्ति' और 'देशभक्ति की भी भावना को निहित किये हुए है[५०]। इस दृष्टिकोण को अपनाने से 'राजभक्ति' शब्द परम्परया 'राष्ट्रियभावना' शब्द के भी अर्थ का संस्पर्श

---

४९. (क) डा० जी० डी० तिवारी, राजनीतिविज्ञान के मूलतत्त्व, पृ० ६८-६९

(ख) श्री पुखराज जैन, राजनीतिविज्ञान के सिद्धान्त, पृ९ २३-२४

५०. प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ० ३६-३६

करने लगता है। यद्यपि इस तथ्य की हम सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते हैं, तथापि इन दोनों शब्दों के मौलिक भेद, जो यहीं नीचे प्रदर्शित किया जा रहा है, के प्रति भी अपनी आँखे खुली रखनीं चाहिए:-

(क) राष्ट्रियभावना में आत्मगौरव एवं स्वाभिमान का विषय 'राष्ट्र' होता है, जब कि राजभक्ति में व्यक्तिविशेष 'राजा'।

(ख) राष्ट्रियभावना में 'राष्ट्र' का हित सर्वोपरि समझा जाता है, जब कि 'राजभक्ति' में 'राजा' का।

(ग) राष्ट्रियभावना में 'राष्ट्र' के लिए कार्य किया जाता है, जब कि 'राजभक्ति' में 'राजा' के लिए।

(घ) राष्ट्रियभावना व्यक्तिगत स्वार्थ से रहित होती है, जब कि राजभक्ति व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि की आशा से युक्त।

(ङ) राष्ट्रियभावना सदैव प्रशंसनीय बनी रहती है, जबकि राजभक्ति को कभी-कभी 'राजा की चापलूसी' का भी दर्जा मिल जाता है।

यहाँ यह बता देना परमावश्यक है कि यदि कोई राजा अपने राज्य अर्थात् अपने देश किंवा अपने राष्ट्र की सम्पूर्ण प्रजा के भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास को अपने जीवन का लक्ष्य समझता है; उनकी सुरक्षा और रक्षा के लिए सदैव क्रियाशील रहता है; विवेकपूर्ण निष्पक्ष शासन करता है तो उसके प्रति 'भक्तिभाव' रखने को निश्चय ही परम्परया राज्य—देश तथा— राष्ट्र के प्रति भक्तिभाव रखने के समान ही समझना चाहिए; और कहना न होगा कि जिसके प्रति भक्तिभाव होता है, उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा सर्वात्मना की जाती है। अतः उपर्युक्त गुणों से युक्त अपने 'राजा' की आक्रमणकालीन सकट में सर्वात्मना रक्षा करना प्रजा के प्रत्येक वर्ग के लिए सुतरां स्वाभाविक है, जो परम्परया अपने 'राष्ट्र' की रक्षा करने के नितान्त समान ही है। प्राचीन भारतवर्ष में, 'राजतन्त्र' के दिनों में, यह स्थिति अनेक बार आई है, जिसके ज्वलन्त उदाहरण हमारे संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिनका प्रस्तुतीकरण एवं विश्लेषण इस शोधप्रबन्ध में यथास्थान किया जायगा।

राजतन्त्र एवं प्रजातन्त्र में अन्तर

(क) राजतन्त्र में शासनशक्ति एक व्यक्ति, जिसे राजा कहते हैं, में होती

है, जब कि प्रजातन्त्र में यह प्रजा द्वारा निर्वाचित अनेक प्रतिनिधियों में रहती है।

(ख) राजतन्त्र में राजा जीवनभर के लिए शासक बना रहता है, जब कि प्रजातन्त्र में प्रजा के प्रतिनिधि एक निर्धारित कालावधि तक ही शासन करते हैं, तत्पश्चात् प्रजा अपने शासकों का चयन, मतदान के आधार पर पुनः एक निश्चित कालावधि के लिए करती है।

(ग) राजतन्त्र में राजा की तानाशाही रहती है, जब कि प्रजातन्त्र में समग्र प्रजा की इच्छाओं का समुचित ध्यान रखा जाता है।

(घ) राजतन्त्र में राजा अपनी वंशपरम्परा के आधार पर प्रजा पर शासन करने का अधिकारी हो जाता है, जब कि प्रजातन्त्र में प्रजा अपनी प्रशासनिक व्यवस्था हेतु अपनों में से ही बहुमत के आधार पर अथवा निर्विरोध, कुछ व्यक्तियों का निर्वाचन अथवा चयन स्वयं करती है।

(ङ) राजतन्त्र में लोग स्थायीरूप से राजवर्ग और प्रजावर्ग नामक दो वर्गों में विभक्त रहते हैं, जब कि प्रजातन्त्र में लोगों का इस प्रकार का विभाजन अस्थायी रहता है।

(च) राजतन्त्र में ऊँच-नीच, जाति-पाँत, छुआ-छूत, स्त्री-पुरुष, धर्म आदि के भेदभाव को सुरक्षित रखा जाता है, जब कि प्रजातन्त्र में इसे उपेक्षित करने के प्रयत्न किये जाते हैं।

(छ) राजतन्त्र में राजा प्रमुख रूप से अपनी 'अहमियत' (अहम्मन्यता अथवा आत्ममहिमा) के लिए अपनी प्रजा पर अपना शासन करता है, जब कि प्रजातन्त्र में प्रजा अपने सभी वर्गों के विकास के लिए अपने ही द्वारा कुछ काल की अवधि के लिए बहुमत से निर्वाचित अपने ही प्रतिनिधियों द्वारा अपने ही ऊपर शासन करवाती है।

राष्ट्रियभावना और साहित्यकार

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। क्योंकि साहित्य का स्रष्टा सामाजिक प्राणी होता है। अतः उसका भी जीवन समाज के सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक उत्थान-पतन और घात-प्रतिघातों से सदैव प्रभावित होता रहता है। फलस्वरूप उसकी कृतियों में सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के मूल्यांकन की झलक सहज में ही उजागर हो उठती है।

अच्छे साहित्यकार अपनी सरस, रोचक एवं मर्मस्पर्शिनी साहित्य-सुधा से मानवीय गुणों को अमर वनाया करते हैं। वे मानव के मौलिक मनोभावों- रति, उत्साह, हास, करुणा, क्रोध, भय, घृणा, विस्मय, निर्वेद, भक्ति और वात्सल्य—के देशकालोचित चित्रण द्वारा समाज को शिक्षा देते हैं कि इन मनोभावों की कौन सी अवस्था कव स्पृहणीय होती है और कव गर्हणीय पर ऐसा करने में वे तभी समर्थ होते हैं जवकि उनकी चित्संवेदना अतीव तीव्र, उर्वर एवं मुखर होती है। क्योंकि इसी के द्वारा वे जनजीवन में गहराई तक प्रवेश करते हैं; वहाँ की वस्तुस्थिति पर सहज सहानुभूतिपूर्वक चिन्तन-मनन करते हैं तथा इसी की मुखर संप्रेरणा से वे जनजीवन की किसी रसीली किंवा दर्दीली समस्या की अभिव्यक्ति में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा लगाते हैं। यही कारण है कि उनके काव्यों में जनजीवन झलक उठता है; लोपोन्मुख मानवीय गुण प्रतिष्ठोन्मुख हो उठते हैं; सिसकता हुआ सदाचार मुस्करा उठता है; भौतिकतावाद और स्वार्थसिद्धिवाद के अतिवेगवान् एवं कूलङ्कप नदों की उच्छृंखल संगमधारा में डूवती-उतराती सहानुभूति को एक सवल सहारा मिलने लगता है; शक्ति में संवेदना, वुद्धि में सर्जना और हृदय में सद्भावना का उद्रेक होने लगता है; और इस प्रकार जर्जर होती हुई मानवता में पुन: यौवन का मादक वसन्त महक उठता है, जिसके सौरभ से समस्त जनजीवन आप्यायित एवं आह्लादित हो उठता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य जन-जीवन का परिष्कार करता है; मानवता का विकास करता है; शालीनता का प्रचार करता है; तथा वुद्धि, वाणी और मनोवृत्ति की पवित्रताओं का लोकोपकारक संगम कराता है। किन्तु इस प्रकार के साहित्य की सर्जना की आशा सभी साहित्यकारों से नहीं की जा सकती है। क्योंकि साहित्यजगत् में साहित्यकारों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त का अनुयायी है। इस वर्ग की 'साहित्य-सम्पदा' में कलात्मकता का प्राचुर्य हुआ करता है। उसमें भाषा, रीति, छन्दों और अलङ्कारों की विविध योजना द्वारा कविताकामिनी के शृंगार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। फलस्वरूप हृदयप्रधान भावपक्ष (रस और भावों) की उपेक्षा हो जाती है, और वुद्धिप्रधान कलापक्ष प्रमुख हो जाता है। स्पष्ट है कि ऐसा साहित्य साहित्यकार के पाण्डित्य तथा वुद्धि-विलास का तो परिचायक होगा, पर जन-जीवन से दूर और दूरतर होता जाएगा। लेकिन साहित्यकारों का जो दूसरा वर्ग है, जो 'कला जीवन के लिए'

के सिद्धान्त का हिमायती है, संवेदनशील है, सहृदय है, भावुक है, और जिसकी साहित्यसम्पदा में कलापक्ष की गौणता और 'भावपक्ष' की प्रधानता रहती है, उसका साहित्य निस्सन्देह जन-जीवन का संस्पर्श करता है और वह समाज की एक स्वस्थ एवं प्रशस्त 'विरासत' भी बन जाता है। कहना न होगा कि संस्कृत-साहित्य-जगत् में उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के, अर्थात् कलापक्षवादी भी तथा भावपक्षवादी भी साहित्यकार पाए जाते हैं।

चूंकि अन्य भाषाओं के कलावादी साहित्यकारों की भाँति संस्कृत भाषा के भी कलावादी साहित्यकारों की कृतियों में जन-जीवन के प्रति उदासीनता तथा असंवेदनशीलता पाई जाती है, अतः उनमें 'राष्ट्रियभावना' जैसी विशुद्ध हृदयप्रधान भावना की आशा ही नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उनमें तो काव्य-कला के बुद्धिप्रधान विविध प्रकारों की प्रदर्शनी लगाई जाती है। वहाँ भला 'राष्ट्रियभावना' नामक भावमूलक, त्यागपरक एवं संगठनात्मक विचारधारा के प्रभाव की किसे चिन्ता ? रूप-मदिरा में मस्त रहने वाले व्यक्ति गुणों पर कब ध्यान दे पाते हैं ? हाँ, भाववादी साहित्यकारों में अवश्य ही कुछ ऐसे साहित्यकार पाए जाते हैं, जिनकी कृतियों में पाठक को 'राष्ट्रियभावना' की लोमहर्षिणी अनुभूति होती है। इनमें कुछ तो ऐसे भी हैं, जिनका समग्र काव्य-सागर 'राष्ट्रियभावना' के ऊर्मिल सलिल से आप्लावित दिखता हैं। फलस्वरूप देशभक्ति की ऊष्मा से युक्त पाठकों का मन उसमें बड़े ही उत्साह के साथ यथेच्छ अवगाहन करने लगता है। किन्तु उसका यह अवगाहन नितान्त विलक्षण तथा अलौलिक होता है। क्योंकि इस अवगाहन से उसकी 'देशभक्ति' की ऊष्मा कम नहीं होती, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ती ही है; जो उसे अभीष्ट भी होती है। हमारे संस्कृत साहित्यजगत् में सर्वश्री वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, विशाखदत्त, भट्टि, भवभूति, मुरारि, अनन्तभट्ट, श्रीहर्ष, विद्यापति, नयचन्दसूरि, माधव, चन्द्रशेखर, वेङ्कटाध्वरि, देवराज शर्मा, देवराज शास्त्री, अम्बिकादत्त व्यास, अखिलानन्द शर्मा, श्रीपादशास्त्री हसूरकर, गयाप्रसाद उपाध्याय, मूलशङ्कर माणिकलाल याज्ञिक, पण्डिता क्षमाराव, हरिनन्दन भट्ट, श्रीनिवास शास्त्री, मथुराप्रसाद दीक्षित, नारायणपति त्रिपाठी, पंचानन तर्करत्न, जीवन्यायतीर्थ, मेधाव्रत, हरिदास सिद्धान्तवागीश, कपाली शास्त्री, श्रीनिवास ताडपत्रीकर, रमाकान्त उपाध्याय, बालकृष्ण भट्ट, रामकृष्ण भट्ट, जयराम शास्त्री, स्वामी भगवदाचार्य, विश्वनाथ केशव छत्रे, कपिलदेव द्विवेदी, महादेव पाण्डेय, नीरपाजे भीमभट्ट, रामनिरीक्षण सिंह, श्रीधर भास्कर

वर्णेकर, लीला राव दयाल, वासुदेव शास्त्री, गोपालकृष्ण भट्ट, सुवोधचन्द्र पन्त, यतीन्द्र विमल चौधुरी, रमा चौधुरी, हरिहर त्रिवेदी, रुद्रदत्त पाठक, रामावतार शर्मा, शिवप्रसाद भारद्वाज, सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, शशिधर शर्मा, एस० के० रामचन्द्र राव, रामकैलाश पाण्डेय, के० एन० एलुत्तच्छन्, रामचन्द्र रेड्डी, श्रीराम वेलणकर, ज्वालापतिलिङ्गशास्त्री, ब्रह्मानन्द शुक्ल, श्यामवर्ण द्विवेदी, गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी, कृष्णलाल, कृ० वा० चितले, गजानन वालकृष्ण पलसुले, शठकोप विद्यालंकार, त्र्यम्वक शर्मा, माधवराव श्रीहरि अणे, रेवाप्रसाद द्विवेदी, रमाकान्त मिश्र, वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य, रमेशचन्द्र शुक्ल, शिवगोविन्द त्रिपाठी, द्वारकाप्रसाद त्रिपाटी, रामकृष्ण शर्मा, रघुनाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीकृष्ण सेमवाल, वलभद्रप्रसाद गोस्वामी, उमाशङ्कर शर्मा, के० एस० नागराजन्, श्रीकृष्णजोशी, सत्यव्रत शास्त्री, चूनीलाल सूदन, किशोरनाथ झा, शिवसागर त्रिपाठी, कपिलदेव द्विवेदी, स्वयंप्रकाश शर्मा, मुतुकुलं श्रीधर, राजेन्द्र मिश्र, रमाकान्त शुक्ल आदि अनेक भावपक्षवादी साहित्यकारों के साहित्यकोशागार में 'राष्ट्रियभावना' के देदीप्यमान हीरे भरे पड़े हैं; जिनमें भारतराष्ट्र के जन-जीन को शाश्वत आलोक प्रदान करने का आनन्द एवं अजर्य्य प्रकाशपुंज परिव्याप्त है; जो देशवासियों में एकता' तथा 'राष्ट्रचेतना' को सर्वथा प्रकाशित किये रखने के लिए परमोपादेय है। इन राष्ट्रप्रेमी संस्कृत-साहित्यकारों की कृतियों में राष्ट्र के प्राणों का संचार मिलता है; उसकी उदात्त आत्मा का प्रतिविम्व झलकता है; और अतीतकालीन गरिमा की स्मृति एवं भविष्यकालीन समृद्धि की वलवती आशा के साथ-साथ वर्तमानकालीन गतियों तथा प्रगतियों के प्रति दायित्व का कान्तासम्मित उपदेश भी सुनाई देता है। उनमें राष्ट्र की भावात्मक एकता को प्रचुर-प्ररोचनापूर्वक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है; व्यष्टि को समष्टि की सेवा में समर्पित हो जाने का सन्देश दिया गया हैं; और अपने देश, किंवा अपने राष्ट्र के सम्मान की रक्षा करने के लिए प्रत्येक देशवासी को मर्मस्पर्शिनी तथा अतीव प्रभावशालिनी प्रेरणा दी गई है। कहना न होगा कि ये समस्त विशेषताएँ किसी भी भाषा के राष्ट्रियभावना-परक साहित्यकारों के साहित्य का ही नहीं, अपितु किसी भी भूभाग के समग्र राष्ट्र का स्पृहणीय जीवन होती हैं।

साहित्य में राष्ट्रियभावना की अभिव्यक्ति के आधार

जिन साहित्यकारों के हृदय में अपने राष्ट्र के प्रति गौरव होता है; प्रेम होता है; भक्ति होती है; उसकी उत्तरोत्तर उन्नति की आकांक्षा होती

है और उसकी रक्षा करने के लिए आत्मवलिदान तक भी करने की अदम्य इच्छा वसती है, उनके साहित्य में अवश्य ही कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, राष्ट्रियभावना अभिव्यक्त हो उठती है। इस अभिव्यक्ति पर साहित्यकार के देशकाल की परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव रहता है। यद्यपि यह शत-प्रतिशत सत्य है कि 'राष्ट्रियभावना' का जो उद्रेकातिशय अपने राष्ट्र पर अन्य राष्ट्र द्वारा आक्रमण किये जाने पर अनुभूत होता है, वह शान्ति के दिनों में नहीं होता; क्योंकि युद्ध के दिनों में समग्र राष्ट्रकी न केवल प्रतिष्ठा, वल्कि सुख-समृद्धि भी संकटापन्न हो जाती है। अतः सभी लोग राष्ट्रियभावना से सम्प्रेरित होकर तन-मन-धन से अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा एवं समृद्धि, जो उन सवकी अपनी होती है, की रक्षाहेतु जुट पड़ते हैं। किन्तु इस वास्तविकता का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि शान्ति के दिनों में 'राष्ट्रियभावना' समाप्त हो जाती है। क्योंकि 'राष्ट्रियभावना' का जीवन केवल युद्धों पर ही निर्भर नहीं होता। वह शान्ति के दिनों में भी अपने विचारशील मनीषी राष्ट्रवासियों के मनोमस्तिष्क में जीती रहती है। फलस्वरूप राष्ट्र में सुख-समृद्धि, शान्ति, शालीनता और आमोद-प्रमोद का वातावरण विकसित हुआ करता है। हमारे कतिपय साहित्यकार भी राष्ट्र की दोनों ही दशाओं में राष्ट्रवासियों के हृदय में वसी हुई साहित्य-शास्त्रीय स्थायिभावोपम सुप्त 'राष्ट्रियभावना' को अपनी साहित्य-सर्जना द्वारा जागरित किया करते हैं।

जनमानस में 'राष्ट्रियभावना' जगाने वाले इन साहित्यकारों की साहित्य-सम्पदा में 'राष्ट्रियभावना' की अभिव्यक्ति विविध रूपों में उपलब्ध होती है। देखा जाता है कि साहित्यकार कहीं तो राष्ट्र-प्रेम की मर्मस्पर्शिनी शिक्षा देता है; कहीं राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की रक्षा करने के लिए ओजस्विनी स्फूर्त्ति प्रदान करता है; कहीं राष्ट्र की भूमि, पर्वतों, वनों, सरिताओं, सागर-तटों, तीर्थस्थलों और राष्ट्रिय (सरकारी) सम्पत्तियों के प्रति आत्मीयता का सुदृढ़ भाव जगाता है; कहीं समग्र राष्ट्रभूमि के प्रति मानवीकरण करके मातृ-भाव स्थापित करता है; कहीं सर्वतोमुखी विकास के रूप में राष्ट्रसेवा की प्रेरणा देता है; कहीं राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, धर्म और दर्शन के प्रति स्वाभिमान एवं गौरव का भाव भरता है; कहीं राष्ट्र के कल्याण की कामना करता हैं; कहीं राष्ट्र के हित में अपने तन, मन और धन अर्थात् सर्वस्व के समर्पण का सच्चा भाव जगाता है; तथा वह सव कुछ कहता और

चाहता है जिससे राष्ट्र की सुख-समृद्धि, शान्ति, शालीनता और मान-मर्यादा न केवल सुरक्षित रह सके, बल्कि विकसित भी हो सके।

चूँकि साहित्यकार विचक्षण, विलक्षण, कल्पनाशील और प्रतिभाशाली मनीषी होते हैं, अतः वे अपनी 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रतिभा द्वारा 'राष्ट्रिय-भावना' को आलम्बन देने वाले तथा उसे उद्दीप्त करने वाले उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त और भी दूसरे अनेक प्रकार के प्रभावशाली विषयों (विभावों) की उद्भावना कर सकते हैं। ऐसे साहित्यकार ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद-प्रभेदों के आश्रय से पुरातन कथ्य को भी नूतन बना डालते हैं[५१]। अतः हम यह प्रत्याभूति नहीं दे सकते कि यहाँ ऊपर के अनुच्छेद में प्रदर्शित राष्ट्रियभावना की अभिव्यक्ति के प्रकारों की संख्या को अन्तिम रूप में स्वीकृत कर लिया जाय। हाँ, इतना अवश्य चाहेंगे कि इन्हें उपलक्षण माना जाय।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में राष्ट्रियभावना के सर्वेक्षण के मानदण्ड

प्रमेयों की प्रमा के लिए प्रमाणों की अपेक्षा शास्त्रसम्मत मानी गई है[५२]। लोकव्यवहार में देखा ही जाता है कि किसी भी वस्तु के परिमाणात्मक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तदनुकूल मापकों (मानदण्डों) की आवयकता होती है। उनके अभाव में सत्यता एवं दृढता के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक वस्तुविशेष का परिणाम इतना है। प्रकृत सन्दर्भ में हमें यह उजागर करना है कि संस्कृत-साहित्य में प्राप्य 'राष्ट्रिय-भावना' रूपी प्रमेय का सर्वेक्षण करने के लिए हमने अपने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में किन-किन मानदण्डों का आश्रय लिया है; अर्थात् वे कौन-कौन से वर्ण्य विषय हैं जिनमें 'राष्ट्रिय-भावना' की लोमहर्षिणी अनुभूति होती है।

पिछले शीर्षक के अन्तर्गत हम यह लिख चुके हैं कि राष्ट्रियभावनालु साहित्यकार पाठकों के हृदय में स्वराष्ट्रिय भूमि, पर्वतों, वनों, सरिताओं, सागरतटों, संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, धर्म एवं दर्शन के प्रति जागरूक आस्था जगाकर आत्मनिष्ठ राष्ट्रियभावना की अभिव्यक्ति करते हैं। साथ ही साथ वे अपने पाठकों में अपनी राष्ट्रभूमि के प्रति मातृभाव तथा राष्ट्रप्रेम,

---

५१. आनन्दवर्धनाचार्य, ध्वन्यालोक, ४/१-२.

५२. '......प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'।

—ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, पृ० ४.

राष्ट्रसेवा, राष्ट्ररक्षा, राष्ट्रकल्याणकामना एवं राष्ट्रहितात्मोत्सर्ग के भी भाव उद्‌बुद्ध करते हैं।

हमारी धारणा है कि ऊपर के अनुच्छेद में गिनाए गए विषय साहित्य की भूमि पर राष्ट्रियभावना के बीजों की उपज के लिए अतीव उर्वर खेत हैं। कोई भी कुशल कवि-किसान इन खेतों में अपनी राष्ट्रियभावना की अच्छी-खासी फसल पैदा कर सकता है। हमारे संस्कृत-साहित्यकारों में ऐसे अनेक व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अपने काव्यों में उपर्युक्त प्रतिपाद्य-विषयों में से अपनी रुचि के अनुरूप विषय अथवा विषयों का वर्णन करके अपने हृदय की 'राष्ट्रियभावना', जिसे दूससे शब्दों में देशप्रेम, देशभक्ति किंवा देशगौरव भी कहा जाता है, को देशवासियों के समक्ष साकार किया है और उनके मन में अपने राष्ट्र के प्रति ममत्व एवं गौरव का भाव जागरित किया है।

उपर्युक्त तथ्यों की प्राणवत्ता का अनुभव हमने तभी कर लिया था जब प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा का निर्माण करने के लिए समग्र संस्कृत-साहित्य का स्वाध्याय किया था। अतः औचित्य एवं सौविध्य को दृष्टिकोण में रखते हुए हमने अपने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अपषे अनुसन्धेय साहित्यकारों की साहित्य-सम्पदा में उपलब्ध होने वाली 'राष्ट्रियभावना' के बहुमूल्य हीरे की उपलब्धि के लिए जो सर्वेक्षण, अर्थात् अनुसन्धान किया है उसके मानदण्ड प्रायः वही रहे हैं जिनका विश्लेषण पिछले शीर्षक तथा पिछले अनुच्छेद में किया जा चुका है। उनका शीर्षकीकृत किंवा समाकलित रूप इस प्रकार हो सकता है:-

(क) भारत राष्ट्र की भौगोलिक सीमा के प्रति जागरूकता।
(ख) भारत राष्ट्र की भूमि के प्रति मातृभाव (मानवीकरण)।
(ग) भारत राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पदा—पर्वतों, वनों, सरिताओं, सागरतटों आदि के प्रति उदात्त भावना।
(घ) भारत राष्ट्र की सस्कृति के प्रति आदर भावना।
(ङ) भारत राष्ट्र की सभ्यता के प्रति उदात्त भावना।
(च) भारत राष्ट्र की भाषा के प्रति उदात्त भावना।
(छ) भारत राष्ट्र के साहित्य के प्रति उदात्त भावना।
(ज) भारत राष्ट्र की धार्मिक विचारधारा के प्रति आदर भावना।

(झ) भारत राष्ट्र की दार्शनिक विचारधारा के प्रति उदात्त भावना।
(ञ) भारत राष्ट्र के प्रति प्रेम भावना।
(ट) भारत राष्ट्र की सेवा (उन्नति) के प्रति प्रेरणा।
(ठ) भारत राष्ट्र की रक्षा के प्रति सुदृढ भावना।
(ड) भारत राष्ट्र के कल्याण की हार्दिक कामना।
(ढ) भारत राष्ट्र के हित में आत्मोत्सर्ग की भावना।

हमारे संस्कृत साहित्यकारों की यह भी विशेषता रही है कि उन्होंने अपने राष्ट्र के प्रति आस्था एवं गौरव के भाव ही नहीं जगाए, वल्कि अन्य राष्ट्रों के कल्याण की भी कामना की है; ताकि सम्पूर्ण विश्व में सुख, शान्ति एवं शालीनता रह सके। संस्कृत साहित्यकारों की इस परम उदार वृत्ति को समझकर हमारी तो यह भी धारणा वन गई कि अद्यतन 'अन्ताराष्ट्रियभावना' के विम्ब का उद्गम उनकी 'विश्वमङ्गलकामना' से ही हुआ है। अत एव हमने अपने प्रस्तुत शोधप्रवन्ध में संस्कृतसाहित्यकारों की 'विश्वमङ्गलकामना' को भी 'राष्ट्रियभावना' के सर्वेक्षण का मानदण्ड मान लिया है। फलस्वरूप 'सर्वेक्षण' के स्वनिर्धारित मानदण्डों को प्रदर्शित करने वाली उपरिलिखित सूची में 'विश्वमङ्गलकामना' नामक एक और मानदण्ड सम्मिलित हो जायगा।

भारतीय स्वातन्त्र्य-समर : एक विश्लेषण

आज भारतवर्ष का प्रत्येक शिक्षित नागरिक यह जानता है कि अपना यह भारत देश पन्द्रह अगस्त, सन् १९४७ ई० को सदियों की वैदेशिक दासता से मुक्त होकर स्वाधीन वना है। उस रोज अंग्रेज शासक जो हमारे समग्र राष्ट्र को अपने प्रशासनिक एवं पाशविक पाश में वुरी तरह जकड़े हुए थे, पराजित होकर चले गए और हम सभी भारतीय परतन्त्रता की अन्धकाराच्छन्न कन्दरा से निकलकर स्वतन्त्रता की स्वर्णिम कर्मभूमि में आ गए; तथा इस भारतीय स्वातन्त्र्यसमर में विजयश्री प्राप्त करने वाले महात्मा गान्धी, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना अव्दुल कलाम आजाद आदि नेताओं के प्रति हृदय से कृतज्ञ और आभारी हुए।

अपने देश की स्वाधीनता के लिए अपने व्यक्तिगत सुख-सम्मान को तिलांजलि देकर अंग्रेजों से सतत संघर्ष करते रहने वाले इन अपने प्रिय नेताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना और आभार व्यक्त करना हम सभी भारतीयों का परम कर्त्तव्य है, इसमें हमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। इन सबका सम्मान

हमें करना ही चाहिए; क्योंकि ये सभी उस सम्मान के सर्वथा पात्र हैं। हमारी दृष्टि में इनका सम्मान करना प्रकारान्तर से अपने राष्ट्र का ही सम्मान करना है। चूँकि इन्हें भारतीय स्वातन्त्र्यसमर में सफलता प्राप्त हुई है, अतः ये सभी नेता बधाई के भी पात्र हैं। किन्तु भारतीय स्वातन्त्र्यसमर के केवल अन्तिम चरण में समर का नेतृत्व करने वाले इन नेताओं के अतिरिक्त भी अनेक ऐसे नेता हैं जिन्होंने अपनी मातृभूमि को विदेशियों के शासनपाश से मुक्त कराने के प्रयत्नों में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया है। हमें चाहिए कि हम उन्हें भी नहीं भूलें और उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करें तथा उनके भी आभारी रहें।

इस सन्दर्भ में हमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भारतीय स्वातन्त्र्यसमर के अन्तिम चरण के अतिरिक्त आदिम और मध्यम चरणों का भी ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने पर अनुभव होगा कि १७५७ ई० के पलासीयुद्ध में विजयश्री प्राप्त करके अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य-महीरुह की जड़ें सुदृढ बनाने के प्रयत्नों में भारतीय जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण किया था। उनकी इस शोषणनीति से भारतवर्ष के राजा-महाराजा, नवाव-वादशाह, पण्डित-मौलवी, शिल्पी-व्यापारी, कृषक-श्रमिक आदि सभी हिन्दू-मुसलमान अत्यधिक व्यथित हो गए थे। इतना ही नहीं, वल्कि सभी का धर्म, संस्कृति, सभ्यता और भाषा भी संकटापन्न कर दी गई थी; सभी क्षेत्रों में ईसाई धर्म, अंग्रेजी संस्कृति, अंग्रेजी सभ्यता, और अंग्रेजी भाषा का ही साम्राज्य फैलाया जाने लगा था; यहाँ के हरे-भरे और फूलते-फलते व्यापार-वृक्ष पर निर्ममतापूर्वक तीक्ष्ण कुठाराघात कर दिया गया था; सभी क्षेत्रों में अंग्रेजों को सम्मानित तथा भारतीयों को उपेक्षित किया जाता था; और न्याय की आशा में लन्दन तक जाने वाले विशिष्ट भारतीयों को भी हताश लौटा दिया जाता था। विदेशी अंग्रेज शासकों के भारतराष्ट्र-विरोधी इस अत्याचार को भारत के लोग यदा-कदा थोड़ा-वहुत विरोध करते हुए किसी न किसी प्रकार सन् १८५६ ई० तक सहते रहे। किन्तु जव अंग्रेजों का अत्याचार सर्वथा असह्य हो गया, तो अपने देश की मान-मर्यादा, संस्कृति-सभ्यता और सर्ववर्गीय प्रजा की रक्षा-सुरक्षा हेतु अंग्रेज शासकों को भारतभूमि से हटाने के राष्ट्रव्यापी प्रयत्न अत्यन्त गुप्त रीति से प्रारम्भ कर दिए गए। इस गौरवपूर्ण राष्ट्रिय क्रान्ति के सुदृढ संगठन का कार्य सर्वश्री रंगो बापूजी, अजीमुल्ला खाँ, नाना साहेब पेशवा, बहादुरशाह जफर जैसे भारतानुरागी

महापुरुषों ने अतीव गुप्त रूप से किया। इस क्रान्ति में सक्रिय एवं तीव्र सहयोग देने के लिए समस्त भारतवर्ष में क्रान्ति के प्रचारक साधुओं, सन्तों, फकीरों, भिक्षुकों गायकों, नर्त्तकों और तीर्थयात्रियों के वेश में घूमने लगे। ये लोग गाँव-गाँव में, मेला-बाजारों में, गली-कूँचों में, नगर-नगर में, सड़कों-चौराहों पर, डगर-डगर में, घर-घर में, और जन-जन में अंग्रेज शासन को समूल उन्मूलित करने के लिए एक परम उग्र क्रान्ति करने का सभी भारतीयों को सन्देश देने लगे। क्रान्ति के इन प्रचारकों ने अंग्रेज शासकों की भारतीय सैनिक छावनियों में भी बड़ी ही कुशलता के साथ छद्म वेषों में जा-जाकर भारतीय सैनिकों को भी इस राष्ट्रिय क्रान्ति में सर्वाधिक शक्तिशाली सहयोग देने के लिए रोमांचकारी प्रेरणाएँ दीं।

सभी भारतीय सैनिक और असैनिक व्यक्तियों को इस स्वातन्त्र्यसमर के यज्ञ में सम्मिलित होने का संकल्प कराने की दृष्टि से लाल कमल और रोटी को प्रतीक बनाया गया। भारतवर्ष की प्रत्येक भारतीय सैनिक छावनी में लाल कमल का फूल भेजा जाता था। वहाँ का सेनाधिकारी राष्ट्रियनिष्ठापूर्वक उसे हाथ में लेता था और फिर सभी सैनिक पंक्तिवद्ध होकर देशभक्तिभावना-पूर्वक उसका क्रमशः संस्पर्श करते हुए अपने मन में भावी भारतीय स्वातन्त्र्य-समर में सक्रिय भाग लेने का संकल्प करते थे।

दूसरी ओर गाँव-गाँव में रोटी भेजी जाती थी। गाँव के सभी लोग समवेत होकर उस रोटी को भारतमाता का प्रसाद मानकर जाति-पाँति के भेदभाव को भूलकर उसके अंश को खाते थे और भारतमाता की मुक्तिहेतु भावी संग्राम में सक्रिय भाग लेने का दृढ़ संकल्प करते थे। तदनन्तर दूसरी ताजी रोटी बनाकर दूसरे गाँव को भेजते थे। वहाँ भी उस रोटी का इसी प्रकार समादरपूर्वक सदुपयोग होता था।

इस प्रकार उन दिनों लाल कमल का फूल और रोटी, ये दोनों ही भारतीय चेतना के प्रतीक बनकर भारतीय स्वातन्त्र्यसमर की सज्जा में काम आ रहे थे। कहना होगा कि लाल कमल 'शौर्य' के जागरण का और रोटी 'एकता' की आवश्यकता का प्रतीक है। यही कारण है कि 'लाल कमल' ने भारतीय सैनिक-छावनियों में अप्रतिम शौर्य को जागरित किया; और 'रोटी' ने भारत के असैनिक जनसाधारण को एकता की डोर में बाँधा; तथा अपने देश, अपने धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता तथा अपने राष्ट्राभिमान की रक्षाहेतु दोनों ही वर्ग के लोग विदेशी अंग्रेज शासकों से युद्ध करने के लिए

सन्नद्ध हो गए। नाना साहब पेशवा ने स्वयं भी तीर्थयात्रा के बहाने अजीमुल्ला खाँ, तात्या टोपे आदि अपने क्रान्तिकारी साथियों के साथ इस भारतीय स्वातन्त्र्यसमर का प्रभावकारी प्रचार किया।

उल्लेखनीय है कि नाना साहब पेशवा के संरक्षण और संचालन में क्रान्ति के प्रचार का यह सब कार्य इतनी सतर्कता और कुशलता के साथ सम्पन्न किया गया कि चालाक अंग्रेज शासकों को इस तथ्य का किंचिन्मात्र भी भान नहीं हो सका। वे यह नहीं जान सके कि उनकी आँखों में धूल झोंककर समग्र भारतवर्ष अपनी स्वाधीन सत्ता हेतु उन्हें उखाड़ फेंकने के लिए सब ओर एक भयंकर ज्वालामुखी का निर्माण कर चुका है, जो ३१ मई, १८५७ ई० को फूटेगा और उसमें विनष्ट होने से बचे हुए उन सबको सिर पर पाँव रखकर भारतभूमि से भागने के लिए बाध्य कर देगा।

हमारी धारणा है कि अंग्रेज शासकों को समग्र भारतभूमि से भगाने और अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र बनाने के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध लड़े गए और पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ ई० के दिन सफल हुए भारतीय स्वातन्त्र्यसमर का यह प्रथम चरण था। हमारा यह भी विश्वास है कि यदि १९ नम्बर की पलटन के सिपाही मंगल पाण्डेय ने धीरतापूर्वक ३१ मई, १८५७ का दिन आने की प्रतीक्षा की होती; यदि मंगल पाण्डेय-काण्ड से अंग्रेज शासक भारतीय सैनिकों के प्रति शंकालु न हुए होते और ३४ नम्बर की पलटन के क्रान्ति-कार्यक्रम से परिचित न हुए होते; यदि मेरठ की छावनी में गाय और सुअर की चर्बी से मण्डित और दाँतों से काटकर चलाए जाने वाले कारतूसों को चलाने के लिए अश्वारोही भारतीय सैनिकों द्वारा दृढतापूर्वक निषेध न किया गया होता और उन्हें इस निषेध के लिए अंग्रेज शासकों द्वारा तोपों की मार की विभीषिका के सहारे अपमानित करके दस-दस वर्ष का कठोर कारावास न दिया गया होता; यदि बाजार में नागरिक महिलाओं द्वारा उसी छावनी की दूसरी भारतीय पलटन के सिपाहियों को अपने साथी अश्वारोही सैनिकों के साथ अंग्रेजों द्वारा किए गए उपर्युक्त दुर्व्यवहार का प्रतिशोध लेने के लिए धिक्कारपूर्वक उत्तेजित न किया गया होता; यदि उत्तेजित हुए उन सैनिकों द्वारा ३१ मई, १८५७ ई० के दिन की प्रतीक्षा की गई होती और निर्धारित तिथि के पूर्व १० मई, १८५७ ई० को ही भारतीय स्वातन्त्र्यसमर का श्रीगणेश न किया गया होता; तो निश्चय ही हमारा स्वातन्त्र्यसमर सन् १८५७ ई० में ही पूर्णतया सफल हो गया होता।

नाना साहब पेशवा और बहादुरशाह जफर द्वारा संचालित इस भारतीय स्वातन्त्र्यसमर में भारतीय क्रान्तिसैनिकों को पहले दौर में सभी स्थानों पर अभूतपूर्व विजयश्री प्राप्त हुई। मेरठ, दिल्ली, रुहेलखण्ड, अवध, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, झाँसी, इन्दौर, बिहार आदि स्थानों पर अंग्रेजों का शासन समाप्त हो गया। किन्तु असमय में प्राप्त हुई क्रान्ति की शक्ति संतुलित न रह सकी; साथ ही अपने देश के दुर्भाग्य से कतिपय देशी राजघरानों ने पुरातन पारस्परिक वैमनस्यवश देशद्रोह करके विदेशियों का सक्रिय साथ दिया; किसी ने गुप्त रूप में तो किसी ने प्रकट रूप में भी; और कुछ तो क्रान्तिकारी भी अंग्रेजों की शरण में चले गए। फलस्वरूप झाँसी की रानी वीरांगना लक्ष्मीबाई, नानासाहब पेशवा, सम्राट् बहादुरशाह जफर, महान् सेनानी तात्याटोपे, रावसाहब, अजीमुल्ला खाँ, राजा कुँवरसिंह, अमरसिंह, खान बहादुर खाँ, मौलवी अहमदशाह आदि अनेक राष्ट्रनिष्ठ शूर-वीरों द्वारा अपना सर्वस्व समर्पित करके बहुत दिनों तक लगातार रोमांचक युद्ध करने के बावजूद स्वातन्त्र्यसमर के प्रथम चरण में भारत और सच्चे भारतीयों को सफलता नहीं मिल सकी।

भारतीय स्वातन्त्र्यसमर का द्वितीय चरण सन् १८८० के आस-पास प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी शासन की चक्की में पिसती हुई भारतीय जनता में फिर से राष्ट्रिय चेतना को प्रोद्दीप्त करने का कार्य संगठित होकर किया जाने लगा और इसके लिए बंगाल, मद्रास और महाराष्ट्र में अलग-अलग संस्थाएँ स्थापित की गईं। भारतीय राष्ट्रिय कांग्रेस नामक एक अखिल भारतीय संस्था का जन्म भी इसी बीच सन् १८८५ ई० में हुआ। भारतीय स्वातन्त्र्य-समर के इस दूसरे दौर का नेतृत्व करने वालों में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री महादेव रानाडे, श्री गणेश वासुदेव जोशी, श्री दादाभाई नौरोजी, श्री गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, देशबन्धु चितरंजनदास आदि राष्ट्रभक्त नेताओं के नाम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। साथ ही साथ यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन अप्रतिम प्रतिभाशाली राष्ट्रनिष्ठ नेताओं के भी प्रयत्न अंग्रेज शासकों को पराजित नहीं कर सके; और भारतीय स्वातन्त्र्यसमर का यह द्वितीय चरण भी असफल ही रहा। इसका प्रमुख कारण यह था कि इन दिनों तक अंग्रेजी साम्राज्य के वट वृक्ष की जड़ें भारतभूमि में बहुत गहरी जा चुकी थीं तथा इन भारतीय नेताओं के प्रयत्नों की वायु में अपेक्षित

समवेतशक्तिसम्पन्न तीव्रता भी न थी। इनका ध्यान देश की दशा में सुधार कराने पर तो अधिक रहा, पर स्वतन्त्र स्वराज की प्राप्ति करने में कम।

इसके पश्चात् भारतीय स्वातन्त्र्यसमर का तृतीय चरण आता है। इसका श्रीगणेश महात्मा गान्धी के भारतीय राजनीति में सक्रिय प्रवेश (सन् १९१५ ई०) से माना जाना चाहिए। यह पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ ई० तक चला और सफल हुआ; जैसा कि सभी जानते हैं। भारतीय स्वातन्त्र्य-समर के इस तीसरे (अन्तिम) चरण में जिन महान् राष्ट्रनिष्ठ वीर नेताओं ने अपने भारत देश से अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर दिया, उनमें सर्वश्री महात्मा गाँधी, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं० जवाहरलाल नेहरू, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, विनायक दामोदर सावरकर, चन्द्रशेखर आजाद, सरदार भगतसिंह, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, आचार्य कृपलानी, बाबू जयप्रकाश नायायण. बाबू सम्पूर्णानन्द, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे जिस भारतीय स्वातन्त्र्यसमर को पन्द्रह अगस्त, सन् १९४७ ई० के दिन 'सफलता' प्राप्त हुई, वह विगत ९० वर्षों से चल रहा था। फलस्वरूप हमारा मत है कि इस स्वातन्त्र्यसमर के सूत्र का एक छोर सन् १८५७ ई० है; और दूसरा छोर है सन् १९४७ ई०। इनमें पहला छोर इस समर का 'अथ' है; और दूसरा छोर 'इति'। अतः किसी अपने व्यक्तिगत लौकिक स्वार्थ के वशीभूत होकर इनमें भेदबुद्धि करके किसी को कम और किसी को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं है।

यह तथ्य अतीव आश्चर्य और खेदजनक है कि सर जॉन लॉरेन्स (Sir John Lawrence), सर जॉन सीले (Sir John Seeley) सर जेम्स आउट्रम (Sir James Outram), डब्लू० टेलर (W. Taylor) आदि कुछ अंग्रेज इतिहासलेखकों की ही भाँति डॉ० आर० सी० मजूमदार, डॉ० एस० एन० सेन, डॉ० पी० सी० जोशी, प्रोफेसर मुहम्मद हबीब आदि कतिपय भारतवासी इतिहासकारों ने भी सन् १८५७ ई० की महान् भारतीय क्रान्ति को भारतीय स्वाधीनता संग्राम मानने से इनकार किया है। सर जॉन लॉरन्स तथा सर जॉन सीले की दृष्टि में यह केवल ऐसे सैनिकों का विद्रोह है जो गाय और सूअर की चर्बी से बने हुए कारतूसों को चलाने में अपने धर्म का नाश समझते थे। इन लेखकों ने इस विद्रोह को असंगठित और नेतृत्वविहीन

कहा है। सर जेम्स आउट्रम एवं डब्लू० टेलर ने इसे अंग्रेजों के विरुद्ध केवल मुसलमानों का षड्यन्त्र बताया है। ध्यातव्य है कि ये सभी लेखक विदेशी हैं, अंग्रेज हैं, शत्रु हैं, शत्रुपक्षीय हैं तथा भारत और भारतीयों को हेय दृष्टि से देखने वाले हैं। अतः मैं समझता हूँ कि इन्होंने सन् १८५७ ई० के भारतीयों के उस अजर अमर भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम को अपमानित एवं कुख्यात करने की दृष्टि से ही ऐसे अनर्गल विचार प्रकट किए हैं। ठीक है, हमें तत्कालीन अंग्रेज लेखकों से, जो हमारे और राष्ट्र के उन दिनों शत्रु थे तत्कालीन भारतीय स्वातन्त्र्यसमर के वास्तविक मूल्यांकन की आशा भी नहीं है। क्योंकि वे यह तथ्य भलि भाँति जानते हैं कि वास्तविक मूल्यांकन करने से उनके पाखण्ड की दीवार गिर जायेगी। अतः वे अपने और अपने ब्रिटिश राष्ट्र की महिमा को विश्व में बनाए रखने के लिए भारतीयों के उस 'स्वाधीनतासंग्राम' को राष्ट्रिय महत्त्व से वंचित करने के लिए इस प्रकार का असत्य मूल्यांकन करते रहे हैं। किन्तु हमें आश्चर्यपूर्वक खेद इस तथ्य से है कि कुछ भारतीय इतिहासकार भी उन्हीं की तरह ही नहीं, बल्कि उनसे भी अधिक असत्यतापूर्वक अपने राष्ट्र के उस प्रथम स्वाधीनता संग्राम को हेय दृष्टि से देखते हुए अपनी और अपने भारतराष्ट्र के स्वनामधन्य देशभक्त असंख्य अमर शहीदों की मर्मच्छेदिनी वंचना करते हैं। हमारे डॉ० मजूमदार डॉ० सेन और डॉ० जोशी आदि कुछ ऐसे ही भारतीय इतिहासकार हैं। इन लोगों का कहना है कि उन दिनों भारतीयों में राष्ट्रिय भावना नहीं थी। लोग पंजाबी, राजस्थानी, मराठा, मद्रासी, बंगाली आदि अनेक क्षेत्रीय वर्गों में विभाजित थे। उनमें एक राष्ट्र की चेतना ही नहीं थी। तत्कालीन विद्रोह का कोई नेता भी नहीं था। सामान्य जनता ने भी विद्रोह में भाग नहीं लिया था। सारा देश अनेक राजाओं, नवाबों और सामन्तों की सत्ता के कारण छिन्न-भिन्न था। विद्रोह भी केवल उत्तरी भारत के कुछ ही स्थानों पर हुआ था तथा कुछ राजा, नवाब और सामन्त लोग अपने-अपने सत्ताधिकार की रक्षा हेतु ही लड़े थे; और विद्रोहियों में जनता को लूटने वाले ही अधिक थे; आदि-आदि।

किन्तु हमें सन्तोष है कि उपर्युक्त कतिपय स्वार्थपङ्कलिप्त विदेशी और हीनभावनाभिभूत स्वदेशी इतिहास लेखकों के अतिरिक्त अधिसंख्य विदेशी और स्वदेशी निष्पक्ष इतिहासकारों, लेखकों, विचारकों, नेताओं और कवियों ने सन् १८५७ ई० की महान् क्रान्ति को पूर्णरूपेण भारतीय स्वाधीनता-संग्राम

माना है। इसके लिए उन विद्वानों ने राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक अकाट्य तथ्यपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये हैं। इन मनीषियों में सर्वश्री अर्नेस्ट जोन्स, एफ० डब्लू० वकलर, जान शोर, मैलसिन, जान विलियम 'के', जस्टिस मेकार्थी, चार्ल्स बॉल आदि विदेशी लेखकों तथा सर्वश्री विनायक दामोदर सावरकर, श्रीनिवास बालाजी हर्डिकर, पं० जवाहरलाल नेहरू, सुन्दरलाल, पट्टाभिसीतारमैया, डॉ० के० एम० पाणिक्कर, डा० ईश्वरीप्रसाद, डॉ० अशोक मेहता, वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० रामविलास शर्मा, आचार्य द्विजेन्द्रनाथ विद्यामार्त्तण्ड, डॉ० सैयद अतहर अब्बास रिजवी आदि भारतीय इतिहासविदों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् १८५७ ई० की भारतीय क्रान्ति से सम्बन्धित उपर्युक्त वाङ्मय का निष्पक्ष होकर स्वाध्याय करने के पश्चात् हमारी भी यह सुदृढ़ धारणा बनी है कि वह क्रान्ति निस्सन्देह भारतीय स्वातन्त्र्यसमर थी। उन दिनों भारतवर्ष में राष्ट्रिय भावना का अभाव बताना निश्चय ही राष्ट्रियभावना के व्यापक स्वरूप को न समझ पाना है। अनेक राजाओं, नवाबों, सामन्तों आदि के भिन्न-भिन्न राज्यों में विभाजित होकर भी उन दिनों के भारतवासी लोग विदेशी अंग्रेज शासकों को अपने देश से हटाने के लिए राष्ट्रियभावना के सुदृढ़ तन्तु में परस्पर संसक्त हो गए थे। यहाँ के हिन्दुओं की ही भाँति यहाँ के मुसलमानों में भी भारतभूमि के लिए आत्मीयता और आदर का भाव भर चुका था। अतः अपने-अपने जातिगत धर्मों को मान्यता देते हुए भी दोनों ही प्रकार के लोग अपने देश से और अपनी मातृभूमि से विदेशी अंग्रेज शासकों को मार भगाने के लिए पूरी तौर से संगठित हो गए थे। क्योंकि दोनों ही जातियों के लोगों को अंग्रेजों ने धर्मभ्रष्ट करना शुरू कर दिया था; उन्हें ईसाई बनाना चाहा था; उनके राजाओं और नवाबों के राज्यों को अपहृत कर लिया था; वे उन्हें विविध प्रकार से अपमानित भी किया करते थे; फलस्वरूप भारतवर्ष के सभी हिन्दुओं और सभी मुसलमानों का धर्म और राज्य दोनों ही संकटग्रस्त थे। इसलिए अपने धर्म और अपने राज्य (स्वराज्य) की प्राप्ति और रक्षा हेतु समग्र भारत एक स्वर से और एक ही उपाय से विदेशियो को अपने देश से हटाने के लिए कटिबद्ध हो गया था। इस पवित्र कार्य में अंग्रेज शासकों के अधीन रहने वाले सभी भारतीय सैनिकों को भी बड़ी ही रहस्यात्मक रीति से क्रान्ति के पक्ष में कर लिया गया था।

उत्तर भारत के अनेक राजपरिवारों के राष्ट्रभक्त शूरवीर लोगों ने इस क्रान्ति का सक्रिय संचालन किया था। दिल्ली-सम्राट् बहादुरशाह जफर, रुहेलखण्ड के नवाब खानबहादुर तथा ब्रह्मावर्त (बिठूर-कानपुर) के पेशवा नाना साहब के युद्ध सम्बन्धी रोमांचकारी घोषणा-पत्रों ने हिन्दू-मुसलमान के भेद को समाप्त करके उन्हें एक ही राष्ट्रध्वज के नीचे सोत्साह समवेत कर दिया था। देश की जनता—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, राजा हो या प्रजा, अमीर हो या गरीब, पुरुष हो या स्त्री, वृद्ध हो या बालक, पण्डित हो या मौलवी—सभी एकमति एककृति होकर विदेशी और फिरंगी अंग्रेज शासकों को अपने देश से दूर करने में जुट गए थे। मन्दिरों और मस्जिदों में ईश्वर और अल्लाह से प्रार्थनाएँ की गई थीं कि वे विदेशियों का राज्य समाप्त करने में भारतीय क्रान्तिवीरों की सहायता करें; ताकि यहाँ सभी धर्मों के लोग सुख और सम्मान से रह सकें। अपनी मातृभूमि को, अपनी देशभूमि को, अपनी राष्ट्रभूमि को और अपने धर्म को विदेशियों के क्रूर जाल से मुक्त कराने के लिए बहादुरशाह जफर, नानासाहब पेशवा, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, राव साहब पेशवा, अजीमुल्ला खाँ, राजा कुंवरसिंह अमरसिंह, मौलवी अहमदशाह, खानबहादुर खाँ, जीनत महल, हजरत महल, आदि अनेक शूर-वीर, देशभक्त मूर्धन्य नर-नारियों ने अपना सर्वस्व समर्पित किया था। काश, कतिपय भारतीयों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्तिहेतु अपनी भारतमाता के हृदय में विश्वासघात की छुरी न भोंकी होती; देशद्रोह न किया होता; क्रान्तिवीरों के विनाशहेतु भारतारि विदेशी अंग्रेज शासकों की गुप्त सहायता न की होती; तो हमारा विश्वास है कि हमारा राष्ट्र युद्ध के उसी दौर में स्वतन्त्र हो गया होता। किन्तु इस प्रकार से अबाध देशभक्ति किंवा उत्कट राष्ट्रियभावना के मुक्तिदायी निर्मल सलिल से आप्लावित होकर उद्दाम गति से प्रवाहित होने वाली इस क्रान्ति-गंगा को एक साधारण सा विद्रोह-नद कहने वाले भारतीय इतिहासलेखकों के मति-मान्द्य पर मुझे तरस आता है। भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि इस प्रकार के इतिहासकारों की पुस्तकें पढ़ते समय पाठकों की बुद्धि में अपने देशभक्त एवं स्वातन्त्र्योपासक पूर्वजों के प्रति अराष्ट्रिय भाव का उदय न हो; अन्यथा उनपर बहुत बड़ी कृतघ्नता का बोझ आ गिरेगा।

अस्तु! हमारा विश्वास है कि सन् १८५७ ई० की भारतीय क्रान्ति के विषय में इस उपरिवर्णित विवेचन से हीनभावनाहीन प्रत्येक निष्पक्ष भारतीय

ही नहीं, अपितु सभी सहृदय एवं सत्यनिष्ठ मनीषी भी इस 'अमर भारतीय क्रान्ति' को 'भारतीयस्वातन्त्र्यसमर' मानने में संकोच नहीं करेंगे; साथ ही अन्य लोगों को भी इस राष्ट्रिय ऐतिहासिक तथ्य से परिचित कराएँगे।

हमें हार्दिक प्रसन्नता है यह जानकर कि हमारे संस्कृत-साहित्यकार उपर्युक्त राष्ट्रिय ऐतिहासिक तथ्य से सुपरिचित हैं। फलस्वरूप उनकी दृष्टि में सन् १८५७ ई० का क्रान्ति-यज्ञ सर्वथा राष्ट्रिय है तथा उसमें अपने तन, मन और धन अर्थात् सर्वस्व की आहुति देने वाले सभी व्यक्ति सच्चे और निर्भीक देशभक्त हैं; राष्ट्रियभावनाओं से ओत-प्रोत हैं; प्रशंसनीय हैं; और वन्दनीय भी हैं। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय स्वतन्त्र्य हेतु किए गये इस समर में सर्वाधिक यश प्राप्त करने वाली और भारतीय नागरिकों में स्वदेशाभिमान का अदम्य संचार करने वाली झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्यसम्पन्न, साहससम्वलित, स्वदेशानुरागरंजित, राष्ट्रप्रेमपरिपूर्ण रोमांचकारी राष्ट्रिय कार्यों का बड़े ही मनोयोग के साथ वर्णन किया है; जिसे पढ़कर भारतीय नर-नारियों की धमनियों में प्रवाहित होने वाला रुधिर राष्ट्रियभावना की ऊष्मा से अवश्य ही उष्ण हो उठता है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में अर्वाचीन संस्कृत-साहित्य में उपलभ्यमान राष्ट्रियभावना की प्रस्तुति के अवसर पर हम इस तथ्य को सुधी समीक्षकों के समक्ष विस्तार-पूर्वक प्रस्तुत करेंगे।

इस अध्याय में अपने शोधविषय से सम्बद्ध राष्ट्र, राष्ट्रियता, राष्ट्रीय-भावना, राजा, राज्य, राजभक्ति, राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, भारतीय स्वातन्त्र्यसमर आदि कतिपय पारिभाषिक शब्दों की यथामति सुवोध व्याख्या प्रस्तुत करके अब हम आगे के अध्यायों में शोधविषयानुसार ही संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रिय-भावना की स्थिति पर विचार करेंगे। इस प्रक्रिया में वेदों, पुराणों, उपजीव्य काव्यों, प्राचीन संस्कृत काव्यों, अर्वाचीन संस्कृतकाव्यों और भरत-वाक्यों का क्रमशः पृथक्-पृथक् अध्यायों में राष्ट्रियभावनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया जाएगा, जिसे पढ़कर हमारा विश्वास है कि, प्रत्येक भारतीय व्यक्ति में राष्ट्राभिमान किंवा राष्ट्रियभावना का अदम्य संचार हो उठेगा।

द्वितीय अध्याय

वेदों में राष्ट्रिय भावना

संस्कृत भाषा में वाङ्मय का श्रीगणेश वेदों के आविर्भाव के साथ ही हो जाता है। क्योंकि हमारी अतिप्राचीन चिन्तनधारा के कोष वेद ही हैं। हमारे ऋषियों ने वेदों में मानवजीवन के विविध पहलुओं की पर्याप्त मीमांसा प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि मानव के केवल सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का ही मूल्यांकन नहीं करती, अपितु स्वदेशभक्ति, स्वदेशप्रेम किंवा स्वराष्ट्रप्रेम के भावों को भी उजागर करती है। क्योंकि हमारे ऋषियों को यह तथ्य भली भाँति विदित था कि अपनी सामूहिक सम्मानपूर्ण सत्ता बनाए रखने के लिए यह परम आवश्यक है कि अपनी धरती और देश की तन-मन-धन से सुरक्षा की जाय; और यह तभी सम्भव है जब कि हम अपनी जन्मभूमि, अपनी धरती, अपने देश और अपनी राष्ट्रभूमि के प्रति निष्ठावान् रहें; उसकी उन्नति के लिए क्रियावान् बनें; और उसके सम्मानित 'अस्तित्व' की रक्षा के लिए सदैव संगठित एवं जागरूक रहें; अन्यथा अन्न-जल और धन-धान्य की समृद्धि से विख्यात इस देश को दूसरे देशों के निवासी अवश्य ही आक्रान्त कर डालेंगे। फलस्वरूप यहाँ के अपने लोग अपनी ही धरती पर अभावग्रस्त हो जाएँगे; और तब उनकी दशा ठीक उस शिशु, जिसकी माता का स्तन्य, उसे धकेलकर, कोई दूसरा शिशु पीने लग जाए, की दशा के समान दयनीय हो जायगी। यही सब सोचकर भारतीय ऋषियों ने यहाँ के जन-मानस में देश-प्रेम किंवा राष्ट्रप्रेम की अदम्य भावना को भरने के लिए वेदों में अनेक स्थलों पर अपने देश किंवा अपनी मातृभूमि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, जिसे पढ़कर या सुनकर हमारे हृदय में अपने देश के लिए गौरव का भाव पनपता है।

अपने देश को, अपनी धरती को अर्थात् अपनी जन्मभूमि को माता मानने

की भावना हमें सर्वप्रथम वेदों में ही उपलब्ध होती है[1]। इसी प्रकार अपनी जन्मभूमि को अपनी मातृभूमि कहकर सम्बोधित करने की शिक्षा भी हमें वेदों से ही मिलती है[2]। फलस्वरूप भारतवर्ष की धरती पर जन्म लेने वाले सभी प्रकार के हम भारतीयों में एक रागात्मक सुदृढ बन्धुता का उदय होता है, जिससे प्रेरित होकर हम लोग छोटे-बड़े (ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व, और मध्यमत्व) का भेदभाव भूलकर और सबको एक ही धरतीमाता की गोद से उत्पन्न हुआ (पृश्निमातरः) मानकर अपनी मातृभूमि के विकास एवं रक्षा कार्यों में सर्वात्मना जुटे रहने में ही अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं[3]।

---

१. (क) तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः ।
तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥
(ऋग्वेद, १/८९/४)

(ख) द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
(वही, १/१६४/३३)

(ग) द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्राताऽदितिः स्वसा ।
(वही, १/१९१/६)

(घ) ··················मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात् ॥
(वही, ५/४२/१६)

(ङ) ·········उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम् ॥
(यजुर्वेद, २/१०)

(च) तासु नो धेह्यभि न पवस्व माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्त्तु ॥
(अथर्ववेद, १२/१/१२)

(छ) भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥
(वही, १२/१/६३)

२. इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥
(अथर्ववेद, १२/१/१०)

३. (क) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः ।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥
(ऋग्वेद, ५/५९/६)

(ख) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
(वही, ५/६०/५)

(ग) उदुस्वानेभिरीरत उद्रथैरुदु वायुभिः ।
उत्स्तोमैः पृश्निमातरः ॥
(वही, ८/७/१७)

भारतभूमि की विशेषताएँ

हम सबके हृदय में अपनी जन्मभूमि भारतभूमि के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने की दृष्टि से ऋषियों ने वेदों में इसकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। उन्होंने जहाँ एक और इसे ऐश्वर्यदायिनी[४] बताकर लोगों के हृदय में इसकी क्रियात्मक आराधना करने की प्रेरणा भरी है, वहाँ दूसरी ओर इसे सुखकारिणी (मयोभुवः[५]), सुखदायिनी, अभयदायिनी, निवासदायिनी, कल्याणकारिणी तथा आनन्ददायिनी और अभीष्ट अन्न-जल, घी-दूध से परिपूर्ण (स्योना, अनृक्षरा, निवेशनी, शिवा, सुषदा उर्जस्वती पयस्वती आदि[६]) कहकर इसके प्रति रागात्मक आत्मीयता की भी भावना को उकसाया है। उनका कहना है कि हमारी भारतभूमि सब प्रकार से सम्पन्न है; यहाँ अनेक प्रकार की रोगनाशक औषधियाँ पाई जाती हैं[७]; यहाँ के झरने, सरोवर, नद-नदियाँ और सागर यहाँ के जन-जीवन में परमोपयोगी जल की सुपर्याप्त संपूर्त्ति करते रहते हैं[८]; यहाँ की उर्वरा भूमि पर विविध प्रकार का स्वादिष्ठ अन्न उपजता है[९]; यहाँ की खानों में न केवल सोना ही, बल्कि विविध प्रकार के रत्न भी भरे पड़े हैं[१०]; यहाँ के पर्वत अभीष्ट जलवृष्टि करने वाले, रोगनाशक औषधियों को धारण करने वाले आनन्ददायक, सुखकारक एवं पवित्र हैं[११]; यहाँ के वन सुगन्धित हैं[१२]; सुन्दर-सुन्दर पंखों वाले हंस, गरुड़, मयूर आदि विहङ्गम भी यहाँ पाए जाते हैं[१३]; तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—इन छहों ऋतुओं के सुख एवं लाभ यहाँ प्राप्त होते हैं[१४]। इस प्रकार भारतभूमि की रमणीयता, सम्पन्नता तथा उपयोगिता

---

४. ऋग्वेद, १/१८८/८
५. वही, ५/५/८
६. (क) ऋग्वेद, १/२२/१५; (ख) यजुर्वेद, १/२७; (ग) अथर्ववेद, १२/१/१७, ५९
७. अथर्ववेद, १२/१/२, १७
८. (क) ऋग्वेद, ३/३३ वाँ सूक्त, ७/९४-९६ सूक्त, ८/३१/१०;
(ख) अथर्ववेद, १२/१/३
९. अथर्ववेद, १२/१/४, ४२
१०. वही, १२/१/६, २६, ४४
११. (क) ऋग्वेद, ३/५४/२०, ५/८४/४, ८/३१/१०; (ख) यजुर्वेद, २६/१५
१२. ऋग्वेद, १०/१४६/६
१३, अथर्ववेद, १२/१/५१
१४. अथर्ववेद, १२/१/३६

का वर्णन करके हमारे वैदिक ऋषियों ने यहाँ के निवासियों की उर्वर मनोभूमि में अपनी जन्मभूमि, अपनी देशभूमि किंवा अपनी राष्ट्रभूमि के प्रति आत्मगौरवपूर्ण ममत्वभावना के स्वच्छ तथा अङ्कुरणशील बीज बोए हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मातृभूमि में 'सर्वस्व' की भावना

वैदिक ऋषि अपनी मातृभूमि के प्रति बड़े ही भावुक रहे हैं। उनकी दृष्टि में उनके लिए उनकी मातृभूमि ही सर्वस्व है। वे इसे ही स्वर्ग और अन्तरिक्ष मानते हैं; माता और पिता मानते हैं; देवता समझते हैं; समाज के पाँचों वर्गों में इसी का रूप देखते हैं; तथा इसे ही अपना अतीत और भविष्य मानते हैं। वे इसके प्रति कृतज्ञ होकर इसका गुण-गाण करते है। क्योंकि यह उनकी कल्याणकारिणी माता है; निश्चित एवं पवित्र नियमों का पालन करने वाली है; विपुलशक्तिदायिनीहै; नित्य नूतन है; विशाल है; सुखद है; योगक्षेमकारिणी है; और भोजनदायिनी है। उनका विश्वास है कि सुदृढ एवं सुरक्षित नौका पर चढ़कर लोग जिस प्रकार दुर्गम नदी को निर्विघ्न पार कर लेते है, उसी प्रकार वे भी अपनी सर्वसुखसम्पन्न मातृभूमि में रहकर अपनी जीवनसरिता को आराम से पार कर लेंगे। वे अपनी मातृभूमि से भरपूर भोजन सामग्री की आशा में इसके यशोगीत गाते हैं। उन्हें विश्वास है कि उनकी मातृभूमि उनका त्रिविध कल्याण करेगी[१५]। यहाँ ध्यातव्य है कि 'अदिति' शब्द का अर्थ पृथिवी भी है[१६]।

---

१५. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पंच जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१॥
महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ॥२॥
सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नाव स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥३॥
वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥४॥
(अथर्ववेद, ७/६/१-४)

१६. (क) वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० २२
(ख) एम० एम० विलियम, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० १८

राष्ट्र परिकल्पना

वेदों में राष्ट्र की भी परिकल्पना उपलब्ध होती है। हमारे ऋषिजन यज्ञ करते समय राष्ट्रप्राप्ति की कामना से विभिन्न देवताओं को भावभीनी आहुतियाँ दिया करते थे। यह उनका 'राष्ट्रप्राप्ति यज्ञ' कहा जा सकता है। वे अपने अभीष्ट देवताओं से अपने नायक की संरक्षकता में अपने राष्ट्र की आशंसा किया करते थे। अपने मनोतीत नायक के मस्तक पर राष्ट्रतिलक करते समय भी वे अपने राष्ट्रलाभ की हार्दिक कामनाएँ किया करते थे[१७]।

---

१७. (क) इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते
ज्जैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।
इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष
वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा॥

(यजुवद, ९/४०)

(ख) अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिचन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातिः॥१॥
वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा; वृष्णऽऊर्मिरसि
राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि; वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि
स्वाहा; वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥२॥
अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा; अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत;
ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा; ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
अपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
अपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा;
अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि;
अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा;
अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥३॥
सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;

वे राजाओं को उपदेश देते थे कि वे उपलब्ध हुए अपने राष्ट्र की सर्वात्मना सुरक्षा करें; सभी प्रजाजनों का पालन करें; सबको समान लाभ प्रदान करें तेजस्वी बनें; और ऐसा आचरण करें कि विभिन्न प्रकार की उनकी प्रजाएँ उनकी हार्दिक प्रशंसा करें[१८]। ऋषियों द्वारा राष्ट्रनायकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे दृढता एवं स्थिरता से राष्ट्र की रक्षा करें और प्रजाजनों की श्रद्धा प्राप्त करें[१९]। तत्कालीन राष्ट्रनायक भी अपने राष्ट्र को अपना ही शरीर मानते थे; और उसकी रक्षा-हेतु सदैव अपनी भुजाओं में बल के बने रहने की कामना किया करते थे[२०]। एतदर्थ वे अपने कुलपुरोहितों से प्रार्थना करते थे कि युद्धभूमि में विजयश्री प्रदान कराने वाली अभीवर्त्त नामक मणि-

---

वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा
शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा;
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त;
(अपः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा) अपः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त; मधुमतीर्मधुमधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना अनाधृष्टा सीदत सहौजसो महिक्षत्र क्षत्रियाय दधतीः ।।४।।

(यजुर्वेद, १०/१४)

ग) इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।
अस्य क्षत्रं श्रिय महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ।।१।।
अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मैं धारयत रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्याभिवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ।।२।।
सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धासि मे यजमानाय सुन्वते ।।३।।

(अथर्ववेद, ६/५४ सूक्त)

१८. अथर्ववेद, ३/४ सूक्त ।
१९, ऋग्वेद, १०/१७३ सूक्त ।
२०. यजुर्वेद, २०/७-१०-१३ ।

विशेष को वे उनकी भुजा में बाँधें; ताकि उसके प्रभाव से वे अपने राष्ट्र के आक्रामक वैरियों को पराभूत कर सकें; पराजित कर सकें; नष्ट कर सकें; और अपने राष्ट्र को समृद्ध कर सकें; खुशहाल कर सकें[२१]। तत्कालीन राष्ट्रनायक राष्ट्रहित के ही लिए पर्णमणि नामक मणिविशेष को भी धारण करते थे; ताकि उसके प्रभाव से वे दिव्यवल को प्राप्त करके राष्ट्रद्रोहियों का विनाश कर सकें। उनकी कामना रहती थी कि वे अपने राष्ट्र के 'अपने' वनकर ही रहें, 'पराए' वनकर नहीं। वे लोग राष्ट्र के सभी वर्गों के प्रतिनिधियों को अपने समीप रखते थे, ताकि राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति पर विचार हो सके[२२]। ऋषियों की दृष्टि में विशाल एवं प्रजा में प्रसन्नताधायक राष्ट्र प्रशंसनीय था[२३]।

तत्कालीन ऋषि यज्ञ जैसे परम धार्मिक कार्यों तक में भी अपने राष्ट्र की समृद्धि के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते थे कि उनके राष्ट्र में ब्राह्मण ज्ञानसम्पन्न हों; राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय शूरवीर शस्त्रास्त्र-कलाकुशल, शत्रुनाशक तथा महारथी हों; गौएँ पयस्विनी हों; वैल वली हों; अश्व द्रुतगामी हों; स्त्रियाँ सर्वगुणसम्पन्न हों; रथी योधाओं में विजय प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो; युवक निर्भीक एव सुशील हों; मेघ आवश्यकतानुसार वृष्टि करें; औषधियाँ फूलें-फलें; अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती रहे; और प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित वनी रहें[२४क]। नवदम्पती को आशीर्वाद देते समय भी

---

२१. (क) ऋग्वेद, १०/१७४ सूक्त;
(ख) अथर्ववेद, १/२९ सूक्त;
टिप्पणी : सर मोनियर विलियम ने भी 'अभीवर्त्त' शब्द का अर्थ विजयशील किया है।
—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७०

२२. अथर्ववेद, ३/५ सूक्त।
टिप्पणा—सर मोनियर विलियम की भी दृष्टि में 'पर्णमणि' एक ऐसा यन्त्रविशेष है, जो इन्द्रजाल की शक्ति से सम्पन्न होता है।
—संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ६०६

२३. ऋग्वेद, ७/८४/२

२४. (क) आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्; आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधो महारथो जायताम्;
दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योपा जिष्णू
रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्;
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु; फलवत्यो न
ओषधयः पच्यन्ताम्; योगक्षेमो नः कल्पताम्॥
(यजुर्वेद, २२/२२)

उन्हें अपने राष्ट्र का ध्यान रहता था। फलस्वरूप वे वर-वधू को अपने राष्ट्र की समृद्धि करते हुए ही अपनी समृद्धि करते रहने का आशीर्वाद दिया करते थे[२४ख]।

वेदों में राष्ट्र की न केवल परिकल्पना ही वर्णित है, बल्कि उसके आधार-भूत तत्त्व, उपयोगिता, महत्ता तथा उसके प्रति लोगों के दायित्वों एवं कर्त्तव्यों का भी भली भाँति उपदेश दिया गया है; जो निश्चय ही उनकी हार्दिक 'राष्ट्रिय भावना' का द्योतक है। उन्होंने अपनी मातृभूमि को तेज और बल से परिपूर्ण उत्तम राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है[२५]; और वे उसे सदैव सर्वश्रेष्ठ बनाए रखना चाहते रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने राष्ट्र का विशेषण 'उत्तम' दिया है, न कि 'उत्तर' या 'उत्'। राष्ट्र को उत्तमता-पूर्वक सुरक्षित बनाए रखने के लिए हमारे वैदिककालीन ऋषि ने यह भी उद्घोष किया था कि सत्य, बृहत् [विकास], ऋत [निश्चित नियम], उग्रता [दुर्धर्ष शक्ति], दीक्षा [दक्षता तथा अनुशासन], तप [कर्त्तव्य के प्रति कठोर परिश्रम एवं लगन], ब्रह्म [ज्ञान] तथा यज्ञ [पवित्र क्रियाएँ] ही अपनी मातृभूमि को किं वा अपनी राष्ट्रभूमि को सुरक्षित बनाते हैं[२६]। अतः हमें चाहिए कि हम अपने राष्ट्र की रक्षाहेतु तथा उसके गुणात्मक विकास हेतु इन गुणों को अपनाएँ। यह मानने योग्य तथ्य है कि जिस देश के नागरिक सत्य के प्रति निष्ठावान् होंगे; देश के सर्वतोमुखी विकास में लगेंगे; नियमानुकूल आचरण करेंगे; अदम्य शक्ति से सम्पन्न होंगे; अनु-शासनप्रिय होंगे; कार्यकुशल होंगे; कठोर परिश्रम करते हुए अपने कर्त्तव्य का लगन से पालन करेंगे; सुशिक्षित होंगे और क्रियाशील होंगे; तो वह देश अवश्य ही समृद्धिशाली होगा और विश्व में प्रशंसनीय प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। कहना न होगा कि प्रकृत सन्दर्भ में मन्त्रद्रष्टा के उपदेश का भारतवासियों के लिए यही आशय था।

(ख) अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ॥

(अथर्ववेद, ६/७८/२

२५. वही, १२/१/८

२६. वही, १२/१/१

२७. (क) ऋग्वेद, १/१००/१२; ५/३२/११; (ख) अथर्ववेद; ४/२३/१

एकता तथा संगठन

वैदिक ऋषि को यह तथ्य भी विदित था कि भारत राष्ट्र की अखण्डता एवं प्रगति तभी तक सम्भव है जब तक यहाँ के निवासियों में परस्पर प्रगाढ एकता रहेगी। इसीलिए उसने राष्ट्रनायक को पांचजन्य[२७] कहा है, जिसका भाव है—समाज के पाँचों प्रकार के जनों का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद जाति के जनों का अर्थात् समाज के समस्त प्रकार के जनों का हित करने वाला। राष्ट्रनायक से यह भी आशा की गई है कि वह बिना किसी संकोच के समाज के पाँचों ही प्रकार के जनों के घरों में जाया करे[२८]। इससे निश्चय ही उसके राष्ट्रिय कार्यों की सम्पन्नता में सभी संगठित रहकर सम्पूर्ण योगदान देते रहेंगे। केवल राष्ट्रनायक की ही नहीं, बल्कि समाज के अन्य गण्यमान व्यक्तियों की भी पांचजन्यता को बड़े ही गौरव के साथ उद्धृत किया है[२९]। आपस में वाणी, बुद्धि और ज्ञान के सामंजस्य के उपदेश द्वारा भी ऋषियों ने पारस्परिक एकता को ही सुरक्षित रखना चाहा है[३०]। क्योंकि उन्हें एकता में सुख [योः=एकतायाः, सुखम्] की अनुभूति हुई है[३१]। संगठन को वे कुलीनता, तेजस्विता और शक्तिसम्पन्नता का चिह्न मानते हैं[३२] तथा प्रसन्नता एवं सुरक्षा का सुदृढ़ साधन समझते हैं[३३]। राष्ट्रहितपरक कार्यों की सिद्धि के लिए तो संगठन परमावश्यक बताया गया है। ऐसे अवसरों पर निर्विवाद एकता बनाए रखने का निर्भ्रान्त उपदेश दिया गया है[३४]। सार्वजनीन कार्य की सिद्धि भी तभी सम्भव बताई गई है जब समाज के पाँचों [सभी] वर्ग एकभाव से तदनुकूल आचरण करते हैं[३५]। यदि कहीं कुछ भेदभाव प्रतीत होता हो, तो उसे पनपने से पहले ही मिटा लेना चाहिए[३६]। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहे जाने वाले समाज के सभी वर्गों के मनुष्यों को

---

२८. ऋग्वेद, ७/१५/२
२९. वही, १/११७/३
३०. वही, १/१७/४, ३/४/८
३१. वही, ४/५३/१४
३२. (क) वही, ७/१/४; (ख) अथर्ववेद, ३/२०/८;
३३. ऋग्वेद, ७/६/५; ७/४३/५
३४. वही, ७/७६/५
३५. वही, ८/६३/७
३६. ७/८३/४

एक ही विराट् पुरुष परमपिता परमात्मा के शरीरावयवों से प्रादुर्भूत बताकर भी सबके मन में सजातीय एकता का भाव भरा गया है[३७]। 'सर्वजनहिताय', 'सर्वजनसुखाय', दिव्योपम, विशाल तथा कल्याणकारी 'संवेश्य' राष्ट्र की योजना को सफल बनाने हेतु देवताओं से प्रार्थना करते हुए[३८] नागरिक जनों से अपील की गई है कि वे अपने मन, विचार और क्रियाकलाप में परस्पर मतभेद नहीं रखें[३९]।

वैदिक ऋषियों को संगठन तो इतना अभीष्ट था कि वे इसके लिए यज्ञ तक करते थे। उसमें वे जलों की धाराओं के सम्मिश्रण, हवाओं के पुंज और पक्षियों के समूह की संगठनात्मक शक्ति का उद्घोष करके सभी लोगों को सम्मिलित और संगठित होने के लिए आह्वान करते थे और संगठन की वृद्धि हेतु उन्हें भी भाषण के लिए प्रेरित करते थे[४०]। निश्चय ही उनका यह प्रयास राष्ट्र के विकास एवं संरक्षण के लिए होता होगा। अतः इसे भी उनकी हार्दिक राष्ट्रियभावना का प्रतीक माना जा सकता है।

आज राष्ट्रिय विकास हेतु शिक्षा, सम्पर्क, दायित्व, विचारविमर्श, अधिकार, उद्देश्य आदि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में देश के सभी वर्गों को समान भाव से विकसित करने की जो बात कही जाती है, वह हमारे वैदिक ऋषियों को भी अभीष्ट थी। क्योंकि हम देखते हैं कि उन्होंने भी अपने सभी देशवासियों को उपदेश दिया था कि वे आपस में

---

३७. वही, १०/९०/१२

३८. आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राराष्ट्रं संवेश्यं दधातु॥

(अथर्ववेद, ३/८/१)

३९. सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥

(वही, ३/८/५)

४०. (क) सं संस्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पत्त्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि॥१॥
इहैव हवमायात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः॥२॥

(वही, १/१५/१-२)

(ख) अदारसृद् भवतु देव..............।

(वही, १/२०/१)

मिलकर चलें; मिलकर बोलें; मिलजुलकर ही ज्ञान प्राप्त करें; परस्पर सम्पर्क में रहें; सौमनस्य बनाएँ; यथायोग्य दायित्व भाग लें; मिलकर मन्त्रणा करें; समितियों में समान अधिकार समझें; उद्देश्य में हार्दिक समानता रखें; सब साथ-साथ काम करें, आदि-आदि[४१]।

वैदिक कवियों ने अपने भारतराष्ट्रवासियों से यह भी आशा की थी कि वे अपनी सुविधा और अभ्यास के अनुसार चाहे जिस भाषा में वार्त्तालाप करें; और अपनी इच्छानुसार चाहे जिस धर्म (ईश्वर) की उपासना करें; किन्तु उन्हें अपने समग्र राष्ट्र को अपने गृह के समान ही समझना चाहिए; और उसकी मिलजुलकर देखभाल करनी चाहिए। क्योंकि तभी हमारा राष्ट्र ऐश्वर्यसम्पन्न हो सकेगा[४२]।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक घर के लोग भिन्न-भिन्न भाषाओं का अध्ययन करके तथा अपनी-अपनी व्यक्तिगत धार्मिक आस्थाओं वाले होकर भी अपने घर की मिलजुलकर देखभाल करते हैं तथा उसे सुख सुविधा सम्पन्न बनाकर स्वयं भी सुखी होते हैं; और ऐसा करने में उनका भाषाभेद तथा धर्मभेद बाधक नहीं बनता है, ठीक उसी प्रकार भारतवासियों को भी

---

४१. (क) संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥
(ऋग्वेद, १०/१९१/२-४)

(ख) सं जानीध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते ॥१॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥२॥
समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥३॥
(अथर्ववेद, ६/६४/१-३)

४२. जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥
(वही, १२/१/४५)

अपने भाषाविषयक एवं धर्मविषयक भेदभाव की उपेक्षा करके अपने समग्र राष्ट्र का कल्याण आत्मीयतापूर्ण समवेत भावना से करना चाहिए। ऐसा करने से निश्चय ही उनका स्तर सहस्रमुखी होगा और बढ़ेगा। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वैदिक ऋषियों ने भाषाभेद तथा धर्मभेद को बड़े ही सरल एवं हृदयग्राही शब्दों में राष्ट्रिय धर्म का विरोधी होने से रोका है। यहाँ भाषाभेद एवं धर्मभेद को जातिभेद, वर्णभेद, प्रान्तभेद आदि अन्य सभी भेदों का उपलक्षण समझना चाहिए।

वैदिक ऋषि को यह जानकर परम सन्तोष था कि भारतभूमि में रहने वाले सभी छोटे-बड़े लोगों में कोई मन-मुटाव [सम्बाध] नहीं है, बल्कि परस्पर सापेक्षभाव हैं। इससे उसे विश्वास था कि उसकी मातृभूमि की कीर्ति फैलेगी और सभी देशवासी खुशहाल होंगे[४३]। उसने समाज के पाँचों वर्गों के लोगों में सजातीयता का भाव भरने के उद्देश्य से यह भी घोषणा की थी कि हम सभी भारतमाता से उत्पन्न हुए हैं; उसी का दिया हुआ खा-पी रहे हैं; अतः सभी उसके हैं। हमें चाहिए कि हम सब संगठित हों तथा आपस में कोई किसी द्वेषभाव नहीं रखे[४४]।

नगरों के प्रति स्वाभिमान

वैदिक ऋषियों ने देश के प्रमुख-प्रमुख नगरों के प्रति अपने देवी-देवताओं का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका कहना है कि हमारी मातृभूमि के नगरों का निर्माण हमारे देवताओं ने कराया है[४५]। ऐसा कहकर उन्होंने लोगों के मन में अपने देश के नगरों के प्रति दिव्यता, पवित्रता और अपनी

---

४३. असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या विभर्त्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥
(वही, १२/१/२)

४४. (क) त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवी पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यत्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥
ता नः प्रजाः संदुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥
(वही, १२/१/१५-१६)

(ख) 'मा नो द्विक्षत कश्चन्'
(वही, १२/१/१८, २३-२५)

४५. 'यस्याः पुरो देवकृताः' (अथर्ववेद, १२/१/४४)

तीर्थभूमि का भाव पनपाया है, जो राष्ट्रिय अखण्डता के लिए अतीव महत्त्व-पूर्ण है। उन्होंने अपने देश के अतीत के निर्माण का सम्वन्ध ऐसे ऋषियों-मुनियों से बताया है, जो विविध धार्मिक यज्ञानुष्ठानों द्वारा अपनी देशभूमि की अर्चना [प्रगति] करते रहते थे[४६]।

नदियों के प्रति समादर

अपने राष्ट्र की सरिताओं के प्रति भी वैदिक-साहित्य पर्याप्त संवेदनशील है। पृथिवी की भाँति सरिताओं के प्रति भी मातृभाव की भावना भरी गई है[४७]; कहीं-कहीं उनमें भगिनीभाव को भी आरोपित किया गया है[४८]; उनके जल को दिव्य तथा मधुर वताया गया है[४९]। वह कृषकों की कृषि के लिए सेचक, उर्वरक तथा जीवनीय तत्त्व हैं; उनका जन्मदाता देवराज इन्द्र वताया गया है; सिंचाई में उपयोगी नहरों के रूप में भी सरिताओं की जलधारा का श्रेय स्वीकार किया गया है[५०]; उनके प्रति कृतज्ञता के रूप में प्रशंसात्मक तथा सुरक्षात्मक गीत भी गाए गए हैं[५१], उन्हें मानवजीवन का महान् आश्रय वताया गया है[५२], तथा उनके संगमस्थल को आध्यात्मिक उपलब्धि का केन्द्र वताया गया है।[५३]

पर्वतों से प्रेम

वेदों में अपने पर्वतों पर भी प्रेमभाव प्रदर्शित किया गया है। फलस्वरूप इनमें भी मानवीकरण मिलता है। ये जलवृष्टि करते हैं; अपनी वनस्पतियों

---

४६. (क) 'यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः' (वही, १२/१/८)

(ख) यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥ (वही, १२/१/३९)

४७. ऋग्वेद, १/४६/२; २/४१/१६; ७/३६/६।

४८. वही, ३/३३/९; ६/६१/९-१०।

४९. वही, ३/७/२; ७/९६/५।

५०. वही, ३/३३ वाँ सूक्त; ६/६१/२-१४; ७/३६/६; ७/९६/२-३।

५१. वही, ३/३३ वाँ सूक्त; ६/६१ वाँ सूक्त; ७/९५ वाँ सूक्त तथा ९६ वाँ सूक्त; १०/७५ वाँ सूक्त।

५२. वही, ७/९५/५।

५३. यजुर्वेद २६/१५।

५४. ऋग्वेद, ३/५४/२०।

द्वारा नैरुज्य प्रदान करके मनुष्यों का कल्याण करते हैं[५४]; सुखकारक हैं[५५]; आध्यात्मिक साधना के उत्कृष्टतम स्थान हैं[५६]; फलस्वरूप शत्रुओं से इन्हें सुरक्षित रखने की भी कामना की गई है[५७]।

स्वराज्य भावना

ईशवीय सन् की उन्नीसवीं शताब्दी की प्रौढावस्था तथा बीसवीं शताब्दी के यौवन का भारतीय राजनैतिक इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि 'स्वराज्य' शब्द ने भारतवासियों की विचारधारा में प्रशंसनीय क्रान्ति-लहरें उठाई हैं; तथा 'स्वराज्य प्राप्ति की भावना' ने उनके मन से जीवन का मोह और मृत्यु का भय समूल मिटाया है। किन्तु 'स्वराज्य' शब्द और इसकी भावना—ये दोनों ही संस्कृत साहित्य के वैदिक युग की देन हैं। वहाँ स्पष्ट शब्दों में 'स्वराज्य' की अर्चना के गीत गाये गए हैं; जिनका अभिप्राय है कि स्वराज्य के योग-क्षेम के लिए सतत जागरूक रहना चाहिए; बुद्धिजीवियों को चाहिए कि वे स्वराज्य की रक्षा करने वाले का सब प्रकार से उत्साह बढ़ाएँ और और उसके लिए शस्त्रास्त्रों का निर्माण कराएँ; सामान्य प्रजाजनों को भी चाहिए ऐसे स्वराज्यरक्षक महाप्राणवान् योधाग्रणी की प्रशंसा में बीसियों, सैकड़ों और हजारों की संख्या में समवेत होकर उसकी वीरता तथा स्वराज्य-रक्षाभावना के गीत गाएँ; और स्वराज्य के शत्रुओं को बल से तथा यदि वे छली हों तो छल से भी आक्रान्त करके मार डालने के लिए उसे प्रेरित करें; ताकि वह उत्साहसम्पन्न होकर शत्रुओं का विनाश करके स्वराज्य की अर्चना [रक्षा एवं समृद्धि] करने में तन-मन से लगा रहे[५८]। ध्यातव्य है कि इस सूक्त में अपने बुद्धिजीवियों का प्रतीक ब्रह्मा है और स्वराज्यरक्षक का इन्द्र। 'स्वराज्य' के विस्तार एवं प्रजातान्त्रिकशासन-हेतु हम सभी देशवासी प्रयत्नशील रहें, इसके लिए वेदों में देवताओं से प्रार्थना की गई है[५९]।

राष्ट्र-रक्षा की भावना

कतिपय ऋचाओं में राष्ट्र की रक्षा के लिए भी उपदेश उपलब्ध होते हैं। ऋषियों का आशय है कि राष्ट्रनायक और मातृभूमि के रक्षकों को चाहिए

---

५५. वही, ८/३१/१०।

५६. यजुर्वेद, २६/१५।

५७. अथर्ववेद, १२/१/११।

५८. ऋग्वेद, १/८० वाँ सूक्त; ८/४५/२१।

५९. आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।

कि वे राष्ट्र के द्रोहियों को पनपने न दें; उन्हें समाप्त करते रहें[६०]; अपने राष्ट्र की भूमि का शोषण करने वालों का विनाश करें; शत्रुओं द्वारा अधिकृत भूमि का उद्धार करें[६१]; राष्ट्र के शत्रुओं पर प्रवल आक्रमण करके उन्हें पूरी तरह समाप्त कर दें; अपने अस्त्र-शस्त्रों की धार पैनी रखें; छली शत्रु के साथ छल करने में संकोच नहीं करें; तथा अपने बाहुवल को बढ़ाते रहें[६३]।

राष्ट्रनायक को चाहिए कि वह समस्त प्रजा को समान भाव से सुरक्षित रखे; सबकी प्रार्थनाओं और प्रस्तावों पर ध्यान दें[६४]; पराक्रमशील रहे[६५]; अपने सेननायक और सैनिकों की सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखे[६६]; वलवान् शत्रु की भी धमकियों से न डरे, वल्कि डटकर मुकावला करे[६७]; युद्धकाल में अपने सेनानायकों तथा समस्त सैनिकों को अतिरिक्त धन [वेतन] वितरित करे[६८]; और युद्ध में जीतकर प्राप्त की हुई सम्पत्ति को भी उन्हीं में यथायोग्य उपहारस्वरूप वितरित करे[६९]; अपनी शासनव्यवस्था ऐसी बनाए जो सबको प्रिय हो; यशस्करी हो; और अपने राष्ट्र की रक्षा का ऐसा प्रवन्ध रखे कि कोई भी शत्रु उसे अधिकृत न कर सके[७०]; राष्ट्र के हितैषी मनीषियों को अच्छे-अच्छे पदों पर आसीन करे[७१]; अपनी सेना में वीर सैनिकों की नियुक्ति करे[७२]; सदा उत्साहसम्पन्न रहे[७३]; अपने क्षात्रबल को सर्वोत्तम

व्यचिष्ठे वहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ।।

(वही, ५/६६/६)

६०. वही, १/५१/६ ।
६१. वही, १/६१/१० ।
६२. वही, १/८० वाँ सूक्त ।
६३. वही, १/८०/३-८ ।
६४. वही, ८/४३/२१-२२ ।
६५. वही, ८/४५/२१ ।
६६. वही, ५/३७/४ ।
६७. वही, १/८०/१२; ७/६६/६ ।
६८. वही, १/८१/३ ।
६९. वही १/१०२/१०; ७/१८/१३ ।
७०. वही, ५/८२/२; ७/८०/६ ।
७१. वही, ४/५०/८ ।
७२. वही, ७/३४/१६ ।
७३. वही, ७/३१/१२ ।

रखे[७४]; तथा पवित्र एवं निश्चित नियमों [ऋत] का पालन करे[७५]।

सेनानायक से आशा की गई है कि वह युद्धक्षेत्र में आगे वढ़कर अपनी सेना का चतुरतापूर्वक संचालन तथा व्यूहात्मक संगठन करे; शत्रु की सेना को विघटित करे; उसे दिग्भ्रान्त करे; किंकर्त्तव्यविमूढ करे[७६]; विपरीत दिशा से उसे आक्रान्त करके नष्ट करे[७७]; पापी, दुराचारी शत्रुओं को उनसे मिलकर मारे[७८]; अपने शस्त्रास्त्रों को ठीक रखे; अपने असह्य आक्रमण से शत्रुओं को रुलाने की क्षमता रखे; शत्रुओं के आक्रमण से व्याकुल नहीं हो[७९]; जो शत्रु हमारे राष्ट्र को नीचा दिखाना चाहते हैं, हमें दास वनाना चाहते हैं, हमारी सेना पर आक्रमण करते हैं, उन्हें युद्ध में बुरी तरह निर्ममतापूर्वक परास्त करे[८०], युद्ध के मोर्चों पर जाकर शत्रुओं का संहार और अपने रथों की रक्षा करे; शत्रुओं की शक्ति का सही-सही ज्ञान रक्खे; विजयशील वने; शत्रुओं को तृणवत् समझे; अपनी सेना की सुख-सुविधाओं का ध्यान रक्खे; तथा शत्रुसेना को ऐसी जबरदस्त टक्कर दे कि वह पूरी तरह परास्त हो जाय[८१]; अपने राष्ट्र पर शत्रुओं को घेरा न डालने दे[८२]; तथा अपने पक्षधरों की रक्षा करे[८३]।

वेदों में सैनिकों की भी चारित्रिक विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। तदनुसार तत्कालीन सैनिक उच्चवंशीय होते थे; कुलीन होते थे[८४]; महान् ज्ञानी, मनस्वी और दूरदर्शी होते थे[८५]; इन्हीं में कुछ चिकित्सक भी होते थे[८६];

---

७४. वही, ७/३४/११; ७६४/१।
७५. वही, ७/६४/२।
७६. वही, २/२४/६; अथर्ववेद, ३/१-२ सूक्त।
७७. ऋग्वेद, ७/८५/२.
७८. वही, ७/१०४/२.
७९. वही, ७/४६/१.
८०. यजुर्वेद, ८/४४/५३.
८१. वही, १७/३६-४३.
८२. ऋग्वेद, १/३३/१५.
८३. वही, १/६१/१०; ७/१८/१८.
८४. वही, ७/५६/१२; ८/२०/८.
८५. वही, १/८६/७; १/६६/११; ५/५५/२.
८६. वही, ८/२०/२५-२६.

पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से रहित थे; शुद्ध भ्रातृभाव से युक्त थे[८७]; अपने देश की भूमि को अपनी माता समझते थे; उसका हित सर्वात्मना सोचते और करते थे।[८८]; विशालकाय होते थे; तरुण तथा स्वस्थ प्रौढवयस्क होते थे[८९]; रथारोहण[९०] और अश्वारोहण[९१] में पटु होते थे; थकना नहीं जानते थे[९२]; भौगोलिक बाधा तथा वातावरण की विपरीतता से हताश नहीं होते थे[९३]; बड़े ही शक्ति सम्पन्न होते थे; शत्रुओं कों कम्पित कर देते थे; बड़े से बड़े शत्रु को भी नष्ट कर देते थे; खण्डित कर देते थे; अपने मार्ग की सभी बाधाओं को उखाड़ फेंकते थे; तीव्रगामी होते थे; जनहितपरायण होते थे; अपनी राष्ट्रिय शान्ति एवं प्रगति के लिए ही युद्ध करते थे; इन्हें अपने शत्रु की समृद्धि प्रिय नहीं थी; अजेय होते थे; मस्त रहते थे; अपने कार्य में पूर्णतया कुशल होते थे; इनकी शक्ति स्थास्नु होती थी[९४]; अपने सेनापति की सर्वात्मना सहायता करते थे; उसकी रक्षा करते थे; उसके संरक्षण में रहते थे; उसे सर्वथा समृद्ध रखते थे[९५]; अपने राष्ट्रनायक को सदैव अपराजित रजते थे; उसे क्षीण नहीं होने देते थे; उसके शत्रुओं को उसके वश में रखते थे[९६]; ऋष्टि (दुधारी तलवार, कृपाण), वाशी वासि (कुल्हाड़ी), कृति (छुरी), दतीक्रवि (दाँतदार कटार), चक्र, धनुर्वाण, निषङ्ग (तलवार) पवि (वज्र) आदि विविध शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न होते थे; इनके शस्त्रास्त्र सुदृढ़, अग्नि के समान तापक, पाषाणखण्ड के समान घातक, चमकीले तथा

---

८७. वही, १/३७/१; १/६४/३; ८/२०/२२.

८८. :क: वही, १/३८/४; १/८५/२-३; १/८६/७; २/३४/२; ५/५२/१६; ५/५५/२; ५/५७/२; ५/५८/५.
:ख: अर्थर्ववेद, १२/१/१२, ६३.

८९. ऋग्वेद, १/६४/२-३.

९०. वही, १/३९/६; १/८५/४-५; १/१६६/९; ५/५६/६-७; ५/५७/२; ८/२०/१०.

९१. वही, १/३७/२; १/८६/७; ३/५३/२४; ५/५७/२; ७/५६/१.

९२. वही, ५/५४/६

९३. वही, ५/५२/९

९४. वही, १/३७/६; १/३९/३-५; १/८५/४; १/१६६/१०; १/१६८/९; ३/५३/२४; ३/५६/३; ३/५६/७।

९५. वही, १/५१/२; १/१६६/११; ५/५२/२; ७/५६/१; ८/२०/१६।

९६. वही, ५/५४/७; ७/३४/२९।

नवीन होते थे[९७]; उनका प्रयोग अपने देशभक्तों पर नहीं करते थे[९८]; योजनानुसार युद्ध करते थे; कब, कहाँ, किस पर और कैसे आक्रमण करना है, इसका भली भाँति विचार कर लेते थे[९९]; शत्रुओं पर प्रबल एवं कठोर आक्रमण करते थे; आक्रान्त क्षेत्र प्रकम्पित हो उठता था; दूरस्थ क्षेत्र में जाकर किए गए उनके आक्रमण बड़े आश्चर्यजनक होते थे; इन्हें उनमें विजय भी मिलती थी; वे आक्रमण अतीव वेगपूर्ण होते थे; उनमें ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की भी ये परवाह नहीं करते थे[१००]; आक्रमण और युद्ध के समय में ये खाने-पीने की आवश्यक वस्तुओं को अपने साथ रखते थे[१०१]; अपनी युद्ध-योजनाएँ अतीव गुप्त रखते थे[१०२]; ये संगठित होकर युद्ध करते थे; ये आपस में बड़े-छोटे और मझले के भेदभाव से रहित रहते थे; सभी भ्रातृभाव से भरपूर रहकर अपने सौभाग्य में वृद्धि करते थे[१०३]; युद्धयोजनानुसार ये गणों (बटालियनों) में विभक्त हो लेते थे और कुछ आपथ (समीप मार्ग) से, कुछ विपथ (भिन्न-भिन्न मार्गों) से, कुछ अन्तःपथ (गुप्तमार्ग) से तथा कुछ अनुपथ (अनुकूल मार्ग) से युद्ध हेतु प्रस्थान करते थे[१०४]; ये वाग्मी भी होते थे; अपशब्दों का का प्रयोग नहीं करते थे[१०५]; शत्रुओं से अपने देशवासियों की रक्षा करते थे; इसके लिए ये अनेक रक्षा-योजनाएँ बनाते रहते थे; और साधनसम्पन्न होते रहते थे; शत्रुओं के गुप्त आक्रमणों से भी अपने देशवासियों की रक्षा करते थे, अपनी नदियों की रखवाली करते थे[१०६]; शत्रुओं का दमन करने में सोत्साह रहते थे, उनको तहस-नहस करते रहते थे, सुदृढ़ शत्रुओं को भी

---

९७. (क) वही, १/३७/२; १/३९/२; १/८८/५; १/१६६/६,६; १/१६८/३; २/३४/१४ ५/५२/६; ५/५७/२,६, ७/५६/११, ७/१०४/५, ८/२०/२, १२।
(ख) यजुर्वेद, २६/४०-४२, ४५
९८. ऋग्वेद, ७/५६/९।
९९. वही, १/३९/१, ५/५४/५।
१००. वही, १/३७/७-१०, २/३४/१०, ५/५२/२, ५/५४/५, ५/५६/४, ७/५६/६, ७/५७/१ ८/२०/४-५।
१०१. वही, १/१६६/९।
१०२. वही, १/३७/१३।
१०३. वही, १/१६८/९, ५/५८/५, ५/५९/६, ५/६०/५।
१०४. वही, ५/५२/१०, ७/५६/७-८।
१०५. वही, १/८९/७, १/१६६/११।
१०६. वही, १/३९/७-९, १/१६६/१०, २/३४/१४, ७/३२/२७, ८/२०/२४।

नम्र वना देते थे[१०७]; शत्रुओं पर शीघ्र ही विजय पा लेते थे[१०८] ये आभूषण-प्रिय भी थे; वक्षःस्थल पर लटकता हुआ गले में सुनहरी मुद्राओं का हार पहनना इन्हें अत्यधिक पसन्द था[१०९]; ये तेजस्वी होते थे, शस्त्रास्त्रों की दीप्ति से और भी अधिक उद्दीप्त रहते थे[११०]; समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी[१११]; लोग इनकी प्रतिष्ठा में गीत गाते थे, इनका सत्कार करते थे, उत्तम भोज्य एवं उत्तम पेय द्वारा इनको तृप्त करते थे, युद्ध यात्रा पर जाते हुए इन्हें लोग पौष्टिक पदार्थों को उपहार में देते थे, आत्मरक्षाहेतु इनसे प्रार्थना करते थे, इनकी वृद्धि एवं विजय की कामना करते थे, इनकी वन्दना करते थे और स्तुति करते थे[११२]।

समाज के प्रबुद्ध नागरिक अपने राष्ट्ररक्षक सेनानायकों एवं सैनिकों की सुरक्षा हेतु सदा संवेदनशील रहते थे। संग्रामभूमि में उनके सेनानायक शत्रुओं से सुरक्षित रहें और विजय प्राप्त करें, इसके लिए वे लोग देवताओं से प्रार्थनाएँ करते थे[११३]। राजा सुदास ने ऐसी ही प्रार्थनाओं के आधार पर इन्द्र और वरुण जैसे पराक्रमी देवताओं की कृपा प्राप्त करके युद्ध में अपने विरोधी दस राजाओं पर विजय भी प्राप्त की थी[११४]। राष्ट्र एवं राजा की स्थिरता हेतु भी विभिन्न देवताओं से प्रार्थनाएँ की जाती थीं[११५]।

कवियों से आशा की जाती थी कि वे सेनानायकों और सैनिकों में शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करने और करते रहने का अदम्य उत्साह भरने के उद्देश्य से काव्यसर्जना कर। उन्हें चाहिए कि वे अपने वीर योधाओ की शौर्य-कथा

---

१०७. वही, ५/५४/४, ५/५६/२-४, ८/२०/१।

१०८. वही, ५/५२/२, ५/५४/६, ८।२०।१२।

१०९. वही, १/८५/३, १/१६६/१०, २/३४/२, १३, ५/५२/६, ५/५६/१, ७/५६/६, ११, १३, ८/२०/११, २२।

११०. वही, १/६४/२, ५/५४/३, ७/५८/२।

१११. वही, १/८५/२।

११२. वही, १/३७/४-५, १४-१५, १/३८/४, १/८५/३, ५/५६/५. ७/३०/२, ७/५६/२४, ७/५७/२, ८/२०/१४, १९-२०।

११३. वही, ६/२४/१०, ६/२६/१, यजुर्वेद, १७/४६-४९।

११४. ऋग्वेद, ७/८३/७-८।

११५. वही, १०/१७३/४-६।

का कीर्त्तन उत्तम प्रकार से करें, और प्रत्येक योधा का करें[११६], उनकी प्रशंसा में गीत गाएँ, क्योंकि वे हमारी मातृभूमि की रक्षा के लिए अहर्निश जुटे रहते हैं, अतः वे पूज्य हैं, स्तुत्य हैं, नमस्य हैं[११७]। वे हमारे नायक हैं, हितकारक हैं, सखा हैं, अतः उनके प्रशंसात्मक गीत गाए जाने चाहिएँ[११८]। ये गीत रोचक भी होने चाहिएँ[११९], वीरों की यह प्रशंसा

---

११६. एतत् त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो वः ।
पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून् ॥५॥
एषा स्या वो मरुतोऽनुभर्त्री प्रतिष्टोभति वाघतो न वाणी ।
अस्तोभयद् वृथासामनु स्वधां गभस्त्योः ॥६॥

(वही, १/८८/५-६)

११७. ते स्पन्द्रासो नोक्षणोऽतिष्कन्दति शर्वरीः ।
मरुतामधा महो दिवि क्षमा च मन्महे ॥३॥
मरुत्सो वो दधीमहि स्तोमं यज्ञ च धृष्णुया ।
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः ॥४॥
अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामिशवसः ।
प्र यज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः ॥५॥

* *

शर्धो मारुतमुच्छंस सत्यशवमम‍ृभ्वसम् ।
उत स्म ते शुभे नरः प्र स्पन्द्रा युजत त्मना ॥८॥

* *

छन्दः स्तुभः कुमन्यव उत्समा कीरिणो नृतुः ।
ते मे केचिन्न तायव ऊमा आसन् दृशि त्विषे ॥१२॥
य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः ।
तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा ॥१३॥
अच्छ ऋषे मारुतं गणं दाना मित्रं न योषणा ।
दिवो वा धृष्णव ओजसा स्तुता धीभिरिषण्यत ॥१४॥

(वही, ५/५२/३-१४)

११८. (क) ते म आहुर्य आययुरुप द्युभिविभिर्मदे ।
नरो मर्या अरेपस इमान् पश्यन्निति ष्टुहि ॥

(वही, ५/५३/३)

(ख) स्तुहि भोजान् त्स्तुवतो अस्य यामनि रणन् गावो न यवसे ।
यतः पूर्वा इव सखीरनु ह्वय गिरा गृणीहि कामिनः ॥

(वही, ५/५३/१६)

११९. वही, ५/५४/१ ।

प्रकारान्तर से अपनी मातृभूमि की ही प्रशंसा समझनी चाहिए[120], अतः अपने देशरक्षकों की प्रशंसा करनी ही चाहिए, ताकि वे उसे सुनकर और भी अधिक उत्साह से शत्रुओं का विनाश करें[121]।

मातृभूमि, मातृसंस्कृति और मातृभाषा के प्रति आदर

वेदों की अनेक ऋचाओं में अपनी इला (मातृभूमि), अपनी सरस्वती (मातृसंस्कृति) और अपनी मही किं वा भारती (मातृभाषा) के प्रति एक साथ समादर प्रकट किया गया है। इन्हें देवी का दर्जा दिया गया है, सुखदायक (मयोभुवः) कहा गया है, और कामना की गई है कि ये कभी क्षीण न हो, हीन न हो (अस्रिधः), अपितु सदैव प्रतिष्ठित हो, आसनासीन (र्बाहः सीदन्तु) हो। इन्हें पवित्र, पूज्य तथा ऐश्वर्यप्रद बताया गया है और भारतवासियों को प्ररणा दी गई है कि वे उपासना (कर्मठता) द्वारा अपनी भूमि (भारतभूमि), अपनी सरस्वती (भारतीय संस्कृति) और अपनी भारती (संस्कृत भाषा) को अपने पास बनाए रखें[122]।

१२०, वही, ५/५९/१.

१२१, वही, ७/४६/१.

१२२, (क) इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥]

(वही, १/१३/९,)

(ख) शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इला सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः ॥

(वही, १/१४२/९)

(ग) भारतीले सरस्वती या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रियें ॥

(वही. १/१८८/८)

(घ) इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥

(वही, ५/५/८)

(ङ) आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक्तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥

(वही, ७/२/८)

(च) तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती भारती। मही गृणाना ॥

(यजुर्वेद, २७/१९)

(च) 'तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना, ॥

(अथर्ववेद, ५/२७/९)

गोकामना

गाय भारतवर्ष का राष्ट्रिय पशु है। अतः इसके प्रति निष्ठा रखना भारतवर्ष के प्रति निष्ठा रखने के समान है। हमारे वैदिक ऋषियों ने गाय के प्रति हार्दिक निष्ठा अभिव्यक्त की है। उनकी कामना रही है कि उनकी गोशालाएँ रंग-विरंगी गायों और गोसन्तानों से परिपूर्ण रहें, ताकि उन्हें दूध का अभाव न हो। ऋषियों का प्रयत्न रहा है कि गायों का विनाश न हो, चोर-डाकू इनकी हिंसा न कर पाएँ; तथा अन्य कोई भी शत्रु इन्हें शस्त्रास्त्रों द्वारा सता न पाए। गायों को वे अपना सर्वस्व मानते थे, अर्थात् गोदुग्ध को सोमरस की अपेक्षा अच्छा मानते थे। अपनी शारीरिक शक्ति एवं कान्ति को सुरक्षित रखने एवं परिवर्धित करने की दृष्टि से गायों का अपने घरों में पालन-पोषण करना आवश्यक समझते थे। वे इनके खाने-पीने की उत्तम व्यवस्था करते थे। चोरों और गोघातकों से इनकी रक्षा करते थे। श्रद्धा एवं भक्ति के साथ इनका ब्राह्मणों को दान भी करते थे[१२३]।

राष्ट्रदेवी

भारतीय ऋषियों ने समग्र भारतराष्ट्र की एक राष्ट्रदेवी की भी परिकल्पना की है, जो अमूर्त्त राष्ट्रशक्ति किंवा राष्ट्रचेतना का ही मानवीकरणात्मक मूर्त्त रूप है। ऋषियों का दृष्टिकोण है कि यह राष्ट्रदेवी राष्ट्र के चारों ही वर्णों में ओतप्रोत रहती है; सौहार्द, सद्व्रत, शौर्य, ज्ञान तथा आरोग्य का विस्तार करती है; राष्ट्र की आर्थिक दशा में सन्तुलन करती है; विविध ज्ञान की वृद्धि कराती है; अनेक प्रसङ्गों में स्थिर प्रतिष्ठा पाती है; सभी समझदार लोग इसमें अभिनिवेश रखते हैं; यही वह शक्ति है जो राष्ट्र को तेजस्वी (दुर्धर्ष) बनाती है; ज्ञानसम्पन्न करती है; विविध प्रकार के आविष्कारों से युक्त करती है; राष्ट्रशक्तिसम्पन्न देश में खाद्य-पेय पदार्थों का अभाव नहीं होता है; जो राष्ट्र इस राष्ट्रदेवी किंवा राष्ट्रचेतना की उपेक्षा करते हैं, वे विनिष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है; यही राष्ट्र की सम्पदा

(ज) इडैवास्मा अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥
(वही, ७/२७/१)

१२३, (क) ऋग्वेद, ६/२८ सूक्त, ७/१८/१-२, ४, ७, १४, २२,
(ख) अथर्ववेद, २/२६/४-५, ३/१४/४-६, ४/२१ सूक्त. ५/१८ सूक्त, ७/२३ सूक्त, ७/७५ सूक्त, १०/९ तथा १० सूक्त, १२/४ तथा ५ सूक्त।

का विनाश करने वालों के विरुद्ध क्षात्रशक्ति को शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न कराती है और राष्ट्र में आनन्द का संचार रखती है; राष्ट्र की धरती और आकाश के कण-कण में यह समाई रहती है; यह राजा और प्रजा, सभी का हित कराती है; लोगों में राष्ट्र की रक्षा हेतु अपने राष्ट्रनायक के निर्माण की प्रेरणा भी यही देती है; इसका प्रादुर्भाव जनमानस से होता है; और इसका वेग झंझावत की तरह प्रचण्ड एवं व्यापक होता है[१२४]।

भरत एवं भारत

हमारे ऋषियों ने 'भरत' एव 'भारत' शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया है। यह तथ्य सर्वविदित है कि इस देश का सार्वभौम सम्राट् भरत एक ऐसा तेजस्वी एवं लोकप्रिय सम्राट् हुआ है जिसने इस देश को अपने से सम्बद्ध 'भारत' नाम दिया है। वह ऐसे व्यक्तित्व का धनी था कि यहाँ के सभी लोग अपने को भरत और भारत से सम्बद्ध घोषित करने में एक विशेष गौरव का अनुभव करने लगे; और कहना न होगा कि उनका वही आत्मगौरव उनकी राष्ट्रिय चेतना किंवा राष्ट्रिय भावना का अदम्य तथा अजस्र उत्स बन गया। फलस्वरूप यदि एक ओर अपने भारत देश की सर्वतोमुखी रक्षा हेतु विश्वामित्र जैसे ऋषि स्तुतियों द्वारा इन्द्र को प्रसन्न करते रहे हैं, तो दूसरी ओर क्षात्रतेजोयुक्त भारतीय सैनिक भी अपने शत्रुओं को सोत्साह परास्त करते रहे हैं[१२५]।

राष्ट्रविकास योजनाएँ

राष्ट्रिय विकास कार्यों के प्रति भी ऋषियों की जागरूकता उल्लेखनीय रही है। इस सन्दर्भ में उन्होंने अपने देश को धन-धान्य से भरपूर बनाए रखन के लिए कृषिकार्य को पर्याप्त महत्त्व दिया है और खेती के कार्यों को निष्ठापूर्वक करने की प्रेरणा दी है, ताकि देश में खाद्य-पेय पदार्थों का अभाव नहीं हो[१२६]। खेतों की सिंचाई के लिए नहरों की व्यवस्था हेतु वे राष्ट्रनायक से अपील करते थे[१२७]। मूषकों और शलभों से अपने खेतों की

---

१२४. (क) ऋग्वेद, १०/१२५
(ख) अथर्ववेद, ४/३० सूक्त।

१२५. ऋग्वेद, ३/२३/२, ३/५३/१२, २४

१२६. वही, ४/५७ सूक्त, १०/१३४/७

१२७. वही, ७/३४/११

रक्षा करने के लिए लोगों को सावधान करते थे[१२८]। उनके खेत लहलहाते रहें और धन-धान्य से उनके भाण्डार भरते रहें, इसके लिए वे देवताओं से भी प्रार्थनाएँ करते थे[१२९]। राष्ट्रनायक भूमि को उर्वरा बनाने के लिए भी व्यवस्था उपलब्ध कराता था[१३०]।

वैदिक ऋषियों को यह तथ्य भी भली भाँति विदित था कि स्वार्थी, दुराचारी और प्रजा की उपेक्षा करने वाला राष्ट्रनायक देश के लिए घातक होता है। अतः ऐसे राष्ट्रनायक को राजसिंहासन से हटा देना चाहिए[१३१]। और निस्स्वार्थ, सदाचारी तथा प्रजापालक राजा को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करना चाहिए[१३२]।

ऋषियों का उपदेश होता था कि कोई भी व्यक्ति ऐसा कोई भी काम नहीं करे जिससे अपनी मातृभूमि की प्रतिष्ठा गिरे; और ऐसा कोई भी मार्ग नहीं अपनाए जिससे अपने देश के पतन की संभावना हो। सभी लोगों को चाहिए कि वे ऐसे काम करें जो देश को उन्नति की ओर ले जाएँ; और यदि अपनी मातृभूमि पराधीनता की शृङ्खला में आबद्ध हो, तो अपने तन-मन और धन से जुटकर उसको स्वतन्त्र कराना चाहिए; और उसे अखण्ड बनाए रखना चाहिए[१३३]।

अपने राष्ट्र को शक्तिशाली एवं समुन्नत करने और बनाए रखने के लिए महर्षि वशिष्ठ का कार्यकलाप स्वर्णाक्षरों में उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने समग्र राष्ट्र का समग्र हित करने का बीड़ा उठा रखा था; क्योंकि वह राष्ट्र के पुरोहित थे। राष्ट्रद्रोहियों पर विजय प्राप्त करना उनका स्वभाव बन गया था। उनका मन एवं बुद्धि यह अनुभव सदा करते थे कि जिस राष्ट्र के वे पुरोहित [मार्गदर्शक] हैं उस राष्ट्र का क्षात्रबल, पराक्रम तथा उत्साह किसी भी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा अधिक ही होना चाहिए। उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप भी दिया था। अपने राष्ट्र पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं

---

१२८. अथर्ववेद, ६/५० सूक्त।

१२९. ऋग्वेद, १/४२/८-९; २/२३/९; ३/५४/२१; ५/४२/१६; ५/८२/६।

१३०. अथर्ववेद, १२/१/६१।

१३१. ऋग्वेद, १/४२/२; २/२३/१०।

१३२. (क) वही, १०/१२/१०; १०/१७३ सूक्त।
(ख) अथर्ववेद, ३/४/२१; ६/८७ तथा ८८ सूक्त; १५/८ तथा ९ सूक्त।

१३३. ऋग्वेद, ४/१८/१-३; ५/८२/६।

को वे अपनी योजनाओं से सदैव नीचा दिखाते रहे हैं। एतदर्थ उन्होंने अपने राष्ट्र के सैनिकों के लिए अपने ज्ञान-विज्ञान से शत्रुसैनिकों के शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा, अच्छे से अच्छे शस्त्रास्त्रों की व्यवस्था एवं पूर्त्ति पर ध्यान दिया; उनकी संख्या में खूब वृद्धि की; उनमें अदम्य साहस और उत्साह भरा; उन्हें एक झण्डे की छाया में युद्ध-दीक्षा दी; उनके शारिरिक बल को भी बढ़ाया; और उन्हें सिखाया कि शत्रुसेना के प्रमुख-प्रमुख वीरों को आगे बढ़कर चुन चुन कर मारो; उनमें से किसी को मत छोड़ो[१३४]। कांकायन और भृग्वङ्गिरा नामक ऋषि भी शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक प्रभावशाली एवं सफल योजनाएँ बनाया करते थे[१३५]।

राष्ट्रमङ्गलकामना

वेदों में राष्ट्रमङ्गलकामना की भी प्रचुरता पाई जाती है। हम देखते हैं कि क्या प्राकृतिक पदार्थ और क्या वैकृतिक, जिस-जिससे भी अमङ्गल [अशान्ति] की संभावना हो सकती है, उस-उससे समष्टिगत मङ्गल [शान्ति] करने की प्रार्थना की गई है, ताकि सभी सानन्द रह सकें[१३६]। कानों से माङ्गलिक शब्द सुनते रहने और आँखों से माङ्गलिक दृश्य देखते रहने की भी कामना की गई है[१३७]। इसी प्रकार सौ वर्षों तक अच्छी तरह देखते रहने, जीवित रहने, सुनते रहने, बोलते रहने, स्वाभिमान बने रहने, ज्ञान प्राप्त करते रहने, उन्नति करते रहने तथा पुष्ट बने रहने की कामना की गई है[१३८], जिसकी पूर्त्ति से राष्ट्र का मङ्गल सुनिश्चित है।

अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामना

वेदों में न केवल राष्ट्रमङ्गलकामना ही, अपितु अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामना नयनगोचर होती है। ऋषियों ने लोगों को अपनी बुद्धि, धन, ज्ञान, शौर्य आदि को शान्तिपरक सर्जनात्मक कार्यों में प्रयुक्त करने के लिए प्रेरित करके केवल राष्ट्रिय ही नहीं, अपितु अन्ताराष्ट्रिय कल्याण का भी उपदेश दिया है[१३९]।

---

१३४. अथर्ववेद, ३/१९ सूक्त।

१३५. (क) वही, ११/९ सूक्त; (ख) वही, ११/१० सूक्त।

१३६. (क) ऋग्वेद, ७/३५ सूक्त; (ख) यजुर्वेद, ३६/२-३, ८-१७,२२; (ग) अथर्ववेद, १/६/१,४; ६/२३/३।

१३७. (क) यजुर्वेद, २५/२१; (ख) सामवेद (उत्तरार्चिक), २०/तृतीयार्ध/९।

१३८. (क) ऋग्वेद, ७/६६/१६; (ख) यजुर्वेद, ३६/२४।

१३९. ऋग्वेद, ७/३५/२,७,९,१२।

राष्ट्र एवं सत्य [धर्म] के रक्षकों से भी आशा की गई है कि वे लोग भी शान्तिस्थापना को अपना लक्ष्य बनाए रहें[१४०]।

ऋषियों की अन्ताराष्ट्रियमङ्गलकामना का निर्मल भाव तब प्रशंसनीय हो उठता है जब वह हृदय से कामना करते हैं कि विश्व के सभी मानव उन्हें मित्र की दृष्टि से देखें; और वे भी विश्व के सभी मानवों को मित्र की ही दृष्टि से देखें; इस प्रकार विश्व में सभी मानव सभी मानवों को मित्र की दृष्टि से देखें[१४१]; और जो हमें प्राप्त हुआ है, उसी का उपभोग करें, किसी दूसरे के धन को छीन लेने का लोभ नहीं करें[१४२]।

---

१४०. वही, ७/३५/१०,१२।
१४१. यजुर्वेद, ३६/१८।
१४२. वही, ४०/१।

(३)

पुराणों में राष्ट्रिय भावना

पुराण एवं राष्ट्रियभावना

पुराण हमारी पुरातन भारतीय संस्कृति और सभ्यता के कोषागार हैं; लौकिक तथा पारलौकिक जीवनदर्शन के अजस्र आदर्श हैं, वेदों का सरलीकृत रूप हैं, भारतीय शास्त्रों का मनोरम सार सर्वस्व हैं; ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के पावन संगम हैं; बुद्धि का सम्बल हैं; हृदय का उच्छ्वास हैं; अध्यात्मवाद का हृद्यानवद्य रूप हैं; मानवजीवन का व्याख्यान हैं; भारतवर्ष के वास्तविक भूगोल के सुदृढ मानदण्ड हैं; गौरवपूर्ण इतिहास के ज्वलन्त पुंज हैं; सामाजिक, धार्मिक, एवं राजनैतिक विचारधाराओं के अक्षय उत्स हैं; और भारत तथा भारतीयता के प्रबल प्रतीक हैं। यद्यपि इनकी शैली कहीं-कहीं अतिरंजनापूर्ण भी है और इसीलिए इनमें कुछ लोगों को असत्यता की आपात-प्रतीति होने लगती है; किन्तु यह तथ्य फिर भी प्रकट हो उठता है कि इनमें भारतदेश की वरेण्यता को अक्षुण्ण रूप से सिद्ध किया गया है; भूमण्डल के भारतवर्ष नामक इस आर्यदेश की प्रतिष्ठा, रक्षा, सुरक्षा, शालीनता और समृद्धि के प्रति जनचेतना को प्रबुद्ध किया गया है; और यहाँ की संस्कृति, सभ्यता तथा ज्ञान-विज्ञान की महनीय राशि को महत्त्व प्रदान करके विश्व के समक्ष अपनी भारतीयता के प्रति आत्म-गौरव प्रकट किया गया है।

पुराणों की उपर्युक्त महनीय विशेषताओं के कारण इनमें राष्ट्रियभावना की ऊष्मा का अनुभव नितान्त नैसर्गिक है। हमारा विश्वास है कि पुराणों में भारतभूमि की सीमा का निर्धारण करने, उसकी पवित्रता, महत्ता, समृद्धता तथा रम्यता पर प्रकाश डालने, उसके पर्वतों, वनों, नदियों, सरोवरों, समुद्रों, तीर्थों तथा नगरों का महत्त्ववर्णनपूर्वक लेखा-जोखा प्रस्तुत करने, उसकी

रक्षा-सुरक्षा करने वाले अनेक राजवंशों का इतिहास देने, उसमें रहने वाले मनुष्यों के वर्णाश्रमधर्म की व्याख्या करने तथा उसकी सामाजिक उपयोगिता बताने आदि के प्रसंग निश्चय ही जनता में भारतीयता किंवा राष्ट्रियता के भावों को उद्दीप्त करने की दृष्टि से प्रस्तुत किए गए हैं। प्रस्तुत अध्याय में अब इन्हीं उपर्युक्त कतिपय तथ्यबिन्दुओं के आधार पर पुराणों में राष्ट्रिय-भावना का सर्वेक्षण किया जायगा।

भारतभूमि]

पुराणों में भारतभूमि का विविध रूपों में प्रशस्तिपरक वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ ब्रह्मपुराण में ब्रह्माण्डवर्णन के प्रसंग में जम्बूद्वीप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सागर से उत्तर दिशा की ओर तथा हिमगिरि से दक्षिण दिशा की ओर भारतवर्ष की स्थिति है; इसमें जन्म लेने वाले 'भारती' कहलाते हैं; यह देश नवसहस्र योजनों में विस्तृत है; स्वर्ग एव मोक्ष की कामना करने वालों की यह परम उर्वर कर्मभूमि है; महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य तथा पारियात्र नामक सात पर्वत इसी के अन्तर्गत हैं; विश्व में यह अद्वितीय कर्मभूमि है; इसके पूर्व में किरातजातीय, पश्चिम में यवनजातीय तथा मध्य में यज्ञशील ब्राह्मण, युद्धवीर क्षत्रिय, व्यापारप्रवीण वैश्य और सेवापरायण शूद्र निवास करते हैं; शतद्रु (सतलज), चन्द्रभागा, नर्मदा, सुरमा, तापी, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, कावेरी, गोदावरी, भीमरथी, कृष्णा, वेणी, कृतमाला, ताम्रपर्णी आदि अनेक नदियाँ इसकी भूमि को शस्य-श्यामला, सुजला, सुफला और अनाविला बनाती रहती हैं; यहाँ के लोग महाभाग्यशाली होते हैं; स्वस्थ होते हैं; हृष्ट-पुष्ट होते हैं; तपस्वी होते हैं, मननशील होते हैं, दानशील होते हैं, याज्ञिक होते हैं, और वैष्णव होते हैं। यह देश अन्य सभी देशों में श्रेष्ठ है। यह कर्मभूमि है, अर्थात् अपना भविष्य उज्ज्वल करने की भूमि है। जीव को बड़े ही पुण्यपुंज के फलस्वरूप यहाँ मानवजाति में जन्म प्राप्त होता है। यही कारण है कि इस देश की महिमा का देवता भी गान करते हैं। उनकी दृष्टि में वे लोग धन्य हैं, कृतार्थ हैं, और कृतकृत्य हैं जो इस पवित्र भारतभूमि में जन्म पाते हैं[1]। मुनियों द्वारा

---

१. उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे। वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥
नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः। कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च इच्छताम् ॥

भारतवर्ष के विषय में विस्तारपूर्वक सुनने की इच्छा प्रकट करने पर ब्रह्मा

महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥

x x x

इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यं चान्ते च गच्छति।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते॥

x x x

पूर्वे किरातास्तिष्ठन्ति पश्चिमे यवनाः स्थिताः॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः।
इज्यायुद्धवणिज्याद्यवृत्तिमन्तो व्यवस्थिताः॥
शतद्रुचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादविनिःसृता।
तापिपयोष्णीनिर्विन्ध्याकावेरीप्रमुखापगाः॥
ऋक्षपादोद्भवा ह्येताः श्रुताः पापं हरन्ति याः।
गोदावरी भीमरथी कृष्णावेणादिकास्तथा॥
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः।
कृतमाला ताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः॥
त्रिसान्ध्यऋषिकुल्याद्याः महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः।
ऋषिकुल्याकुमाराद्याः शुक्तिमत्पादसंभवाः॥
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्यास्तु सहस्रशः।

x x x

आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा।
समोपेता महाभागा हृष्टपुष्टजनाकुलाः॥

x x x

तपस्तप्यन्ति यतयो जुह्वते चात्र यज्विनः।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्॥
पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा॥
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने॥
यतो हि कर्मभूरेषा यतोऽन्या भोगभूमयः॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्॥
गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः मनुष्याः॥
जानीम नो तत्तु वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्।
प्राप्स्यन्ति धन्याः खलु ते मनुष्याः ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः॥

(ब्रह्मपुराण, १९/१-२७.)

कहते हैं कि यह देश गंगा, सिन्धु, सरस्वती, यमुना, विपाशा (व्यास), वितस्ता (झेलम), गोमती, दृषद्वती, चर्मण्वती, शिप्रा, नर्मदा, वेत्रवती, तुङ्गभद्रा आदि अन्य अनेक नदियों से पवित्र बना हुआ है। इसमें मत्स्य, मुकुटकुल्य, कुन्तल, काशी, कौशल, आन्ध्रक, कलिङ्ग, वाहीक, वाटधान, सुतीर, वाह्लीक, केरल, गान्धार, यवन, सौवीर, मद्र, कैकय, काम्वोज, दशेरक, किरात, काश्मीर, मगध, अङ्ग, वङ्ग, मलद, विदेह, नन्द, महाराष्ट्र, माहिषक, आभीर, पुलिन्द, विदर्भ, दण्डक, शूर्पारक, तालकट, दशार्ण आदि अनेक प्रदेश हैं[2]। इस देश की दक्षिण दिशा में सागर और उत्तरदिशा में हिमालय पश्चिम से लेकर पूर्व तक धनुष की प्रत्यंचा की भाँति विद्यमान है। इस देश में सभी प्रकार के पदार्थ पाए जाते हैं। देवत्व की समाप्ति पर यहाँ मानव-जाति में जन्म पाने के लिए देवगण भी लालसा रखते हैं। क्योंकि विश्व में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ लोगों को उनके सत्कर्मों का सत्परिणाम अवश्यमेव प्राप्त होता है। यही कारण है कि भारतदेश की महिमा वाचाम-गोचर है[3]।

---

२. वही, २७/१-६४.

३. एवं तु भारतं वर्षं नवसंस्थानसंस्थितम्।
दक्षिणे परतो यस्य पूर्वे चैव महोदधिः॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः।
तदेतद् भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तमाः॥
x x x
देवानामपि भो विप्राः सदैवैष मनोरथः।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात् प्रच्युताः क्षितौ॥
x x x
न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः।
यत्र विप्रादयो वर्णाः प्राप्नुवन्त्यभिवांछितम्॥
धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम्॥
प्राप्यते यत्र तपसः फलं परमदुर्लभम्।
सर्वदानफलं चैव सर्वयज्ञफलं तथा॥
तीर्थयात्राफलं चैव गुरुसेवाफलं तथा।
देवताराधनफलं स्वाध्यायस्य फलं द्विजाः॥
यत्र देवाः सदा हृष्टाः जन्म वांछन्ति शोभनम्।
नानाव्रतफलं चैव नानाशास्त्रफलं तथा॥
x x x
प्राप्यते भारते वर्षे न चान्यत्र द्विजोत्तमाः।
कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलान् द्विजाः॥ (वही, २७/६५-७८)

पद्मपुराण में ब्रह्माण्डवर्णन के प्रसंग में भारतवर्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह देश मनु, पृथु, इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, नहुष, मुचुकुन्द, कुबेर, उशीनर, ऋषभदेव, एल, नृग, कुशिक, गाधि, सोम, दिलीप आदि अनेक महनीय राजाओं का प्रिय रहा है। पूर्वोक्त कुलपर्वतों और सरिताओं ने इसकी रम्यता, उपादेयता और पवित्रता को बढ़ाया है। इसमें विभिन्न प्रकार के अनेक जनपद पाए जाते हैं[४]।

विष्णुपुराण में भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा, सामाजिक स्थिति तथा धार्मिक दशा का ठीक वैसा ही वर्णन किया गया है जैसा कि ब्रह्मपुराण में है। इस प्रसंग की शब्दावली भी यत्र-तत्र थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ, अधिकांश मात्रा में यथावत् ही उपलब्ध होती है[५]।

---

४. पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय ६-९.

५. (क) उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥
नवयोजनसाहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्॥
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥
० ० ०
इतः स्वर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च गम्यते।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते॥
० ० ०
पूर्वे किराता यस्य स्युः पश्चिमे यवनाः स्थिताः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मध्ये शूद्राश्च भागशः॥
इज्यायुद्धवणिज्याद्यैर्वर्त्तयन्तो व्यवस्थिताः।
शतद्रुचन्द्रभागाद्या हिमवत्पादनिर्गताः॥
० ० ०
तापीपयोष्णीनिर्विन्ध्याप्रमुखा ऋक्षसंभवाः।
गोदावरीभीमरथीकृष्णावेण्यादिकास्तथा॥
सह्यपादोद्भवा नद्यः स्मृताः पापभयापहाः।
कृतमालाताम्रपर्णीप्रमुखा मलयोद्भवाः॥
त्रिमासाचार्यकुल्याद्याः महेन्द्रप्रभवाः स्मृताः।
ऋषिकुल्याकुमार्याद्याः शुक्तिमत्पादसंभवाः॥
आसां नद्युपनद्यश्च सन्त्यन्याश्च सहस्रशः।
० ० ०
आसां पिबन्ति सलिलं वसन्ति सरितां सदा।
समीपतो महाभागाः हृष्टपुष्टजनाकुलाः॥

शिवपुराण की उमासंहिता में भी भारतवर्ष का सविस्तर वर्णन हुआ है। वहाँ इसका एक सहस्र योजन का दक्षिणोत्तर विस्तार बताया गया है। इसके पूर्व में किरातों, दक्षिण में यवनों, पश्चिम में खसों तथा उत्तर में तपस्वियों का निवास बताया है और इसके मध्यभाग में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का बाहुल्य बताया है। पर्वतों तथा नदियों की स्थिति भी पूर्ववर्णित स्थिति के सदृश ही बताई है। इस भूभाग की रमणीयता, वरणीयता तथा देवताओं द्वारा अभिलषणीयता भी पूर्ववत् कही गई है[६]। इसी प्रकार वायुपुराण[७] तथा भागवतपुराण[८] में भी भारतवर्ष का प्रशंसापरक वर्णन किया गया है।

बृहन्नारदीयपुराण में भारतभूमि की अतीव स्पृहणीय महिमा बताई गई है। इसे फलदायिनी कर्मभूमि बताकर देवताओं को भी इस पर जन्म लेने के लिए उत्कण्ठित बताया गया है। भारतभूमि पर कब जन्म पा सकूँगा; वहाँ उत्पन्न होकर जप-तप-दान और यज्ञों द्वारा भगवान् विष्णु की पूजा करके कब परमपद पा सकूँगा, इस प्रकार की कामनाएँ देवगण सदैव करते रहते

तपस्तप्यन्ति मुनयो जुह्वते चात्र यज्विनः।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्॥
पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा॥
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषा ततोऽन्या भोगभूमयः॥
अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात्॥
गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

० ० ० ०

जानीम नैतत्क्व वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्।
प्राप्स्यामो धन्याः खलु ते मनुष्याः ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः॥
(विष्णुपुराण, २/३/१-२६)

(ख) ब्रह्मपुराण, १९/१-२७.

६. शिवमहापुराण, ५/१८/१-२१.

७. वायुपुराण, ४५/६९-१३७.

८. भागवतपुराण, ५/१९/९-२८.

हैं। उनकी दृष्टि में वह व्यक्ति धन्य है, अनुपम है और वन्दनीय है जिसने भारतभूमि में जन्म पाया। क्योंकि कर्मभूमि होने के कारण इस भूमि में वह विष्णु, शिव आदि की पूजा करके परमपद को प्राप्त कर सकता है। यह शुभावसर अन्य किसी भी भूभाग में जन्म लेने वाले किंवा निवास करने वाले व्यक्ति को प्राप्त नहीं होता। अतः भारतभूमि में जन्म लेने वाले किंवा निवास करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह सत्कर्मों को करके परमपद प्राप्त करने की दिशा में तीव्र प्रयास करे; अन्यथा वह भारतभूमि में जन्मप्राप्तिरूप किंवा निवासरूप मिले हुए स्वर्णिम अवसर को खो बैठेगा और बाद में पश्चात्ताप की आग में झुलसेगा। देवताओं की इस विचारधारा से यह सिद्ध हो जाता है कि यह भारतभूमि परम पवित्र है, कर्मफलदायिनी है, परम प्रशंसनीय है; और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है[६]।

भारतभूमि की प्रशंसा करते हुए मार्कण्डेयपुराण में भी इसे कर्मभूमि बताया गया है। वहाँ भी यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि विश्व में

---

६. क्षीरोदधेरुत्तरं यद् हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
ज्ञेयं तद् भारतं वर्ष सर्वकामफलप्रदम्॥
० ० ०
भारते तु कृतं कर्म शुभं वाशुभमेव वा।
आफलक्षयणं कर्म भुज्यतेऽन्यत्र जन्तुभिः॥
अद्यापि देवा इच्छन्ति जन्म भारतभूतले।
कदा पुण्येन महता प्राप्स्यामः परमं पदम्॥
दानैर्वा विविधैर्यज्ञैस्तपोभिर्वाब्धिशायिनम्।
पूजयित्वा कदा यामो यद्वै पश्यन्ति सूरयः॥
० ० ०
यो भारतभुवं प्राप्य विष्णुपूजापरो भवेत्।
न तस्य सदृशश्चास्ति यथा वै रवितेजसः॥
० ० ०
संप्राप्य भारते जन्म सुकर्मसु पराङ्मुखः।
पीयूषकलशं त्यक्त्वा विषभाण्डं स मार्गति॥
० ० ०
एवं भारतभूभागं प्रशंसन्ति दिवौकसः।
सनत्कुमारब्रह्माद्याः स्वभोगक्षयभीरवः॥
तस्मात्पुण्यतमो ज्ञेयः सर्वकर्मफलप्रदः।
भारताख्यो महाभाग देवानामपि दुर्लभः॥

(बृहन्नारदीयपुराण, ३/४९-७४)

भारतभूमि ही ऐसी भूमि है जहाँ मनुष्य अपने कार्यों द्वारा पुण्यार्जन कर सकता है। यही कारण है कि यह देश पृथ्वी के अन्य सभी देशों में प्रधान है और श्रेष्ठ है[१०]। भारतवर्ष की भौगोलिक लम्बाई को बताते हुए सभी भारतीय पर्वतों, नदियों, जनपदों, जातियों, जनजातियों आदि का नामोल्लेख किया गया है। यह तथ्य यहाँ भी प्रकट किया गया है कि देवगण स्वर्गच्युति के पश्चात् इसी भारतभूमि में जन्म लेने की आकांक्षा करते रहते हैं। क्योंकि भारतवासी मनुष्य द्वारा किए गए कर्म निष्फल नहीं जाते हैं, उनका फल अवश्य ही उन्हें प्राप्त होता है, जब कि अन्य देश निवासी द्वारा किए गए कार्य निष्फल होते हैं[११]।

अग्निपुराण में भारतवर्ष का वर्णन यद्यपि प्रशंसात्मक नहीं है, किन्तु उसमें उपलब्ध उसकी भौगोलिक सीमा, कुलपर्वतों, प्रमुख नदियों, जातियों और जनपदों का संक्षिप्त उल्लेख ही प्रकृत प्रसंग की पुष्टिहेतु पर्याप्त है। इसमें इसे कर्मभूमि बताया गया है[१२]। वराहपुराण[१३] तथा स्कन्दपुराण[१४] में इस प्रसंग में केवल कुलपर्वतों तथा नदियों की ही नामावली दी गई है।

---

१०. — — —।
भारतं नाम यद्वर्षं दक्षिणेन मयोदितम् ॥
तत्कर्मभूमिर्नान्यत्र सम्प्राप्तिः पुण्यपापयोः।
एतत्प्रधानं विज्ञेयं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(मार्कण्डेयपुराण, ५५/२१-२२)

११. — — — ।
एतत्त भारतं वर्षं चतुःसस्थानसंस्थितम् ॥
दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ॥
तदेतद्भारतं वर्षं सर्वबीजं द्विजोत्तम।
— — — ॥
— — — ।
देवानामपि विप्रर्षे सदैवैष मनोरथः।
अपि मानुष्यमाप्स्यामो देवत्वात्प्रच्युताः क्षितौ।
मनुष्यः कुरुते तत्तु यन्न शक्यं सुरासुरैः ॥

(वही, ५७/५८-६३)

१२. अग्निपुराण, अध्याय ११८; तथा ३६६/६.

१३. वराहपुराण, अध्याय ८५.

१४. स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कौमारिकाखण्ड, ३९/११०-१२०.

लेकिन वामनपुराण[१५] तथा कूर्मपुराण[१६] में भारतवर्ष का पुनः पूर्व की ही भाँति विस्तारपूर्वक प्ररोचनात्मक वर्णन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी पर्याप्त विस्तार के साथ भारतभूमि का निरूपण किया गया है। कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक विस्तृत इस भूभाग में व्याप्त सभी जातियों, उपजातियों, पर्वतों, नदियों तथा जनपदों का बड़ी ही बारीकी से वर्णन किया गया है। फलस्वरूप समग्र भारतवर्ष के रोमहर्षक संस्पर्श की अनुभूति हो उठती है[१७]। गरुड़पुराण[१८] तथा ब्रह्माण्डपुराण[१९] में भी भारतवर्ष का साङ्गोपाङ्ग विवरण दिया गया है। गरुड़पुराण में तो देवताओं द्वारा भारतभूमि की प्रशंसा में गीत गाने तथा पुनः स्वर्गापवर्गलाभहेतु वहाँ जन्म प्राप्त करने का भी उल्लेख किया गया है[२०]।

उल्लेखनीय है कि प्रकृत प्रसंग में जिन कुलपर्वतों, नदियों, जनपदों और जातियों का वर्णन किया गया है, उन सबसे समग्र भारतवर्ष के स्वरूप का एक ऐसा बिम्ब उभरने लगता है जो भारतीयों के मन में भारत एवं भारतीयता के प्रति आत्मगौरव की भावना जगा देता है।

राष्ट्राभिनिवेश

पुराणों में अपने भारतराष्ट्र के प्रति अभिनिवेश की भी अभिव्यंजना हुई है। अपने देश की अखण्डता को सौभाग्य माना गया है और देशभंग को अपना दुर्भाग्य समझा गया है। कुल के विनाश को, परपुरुष से प्यार करने

---

१५. वामनपुराण, १३/८-५८।

१६. कूर्मपुराण, १/४५/२०-४३।

१७. मत्स्यपुराण, ११३/१-५७।

१८. गरुडपुराण, (क) पूर्वखण्ड, अध्याय ५५।

(ख) मानुष्यं भारते वर्षे त्रयोदशसु जातिषु।
सम्प्राप्य म्रियते तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते॥
अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैताः मोक्षदायिकाः॥
(गरुडपुराण, उत्तरखण्ड, २८/२-३)

१९. ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, अध्याय १६।

२०. गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
(गरुडपुराण, उत्तरखण्ड, १/६)

वाली पत्नी को तथा दुर्व्यसनों से ग्रस्त पुत्र को देखकर जो दुःख होता है ठीक वैसे ही दुःख का अनुभव अपने देश की छिन्न-भिन्नता की स्थिति में किया गया है[२१]। स्वाधीनता को जीवन की सफलता माना गया है और पराधीनता को जीवन्मृत्यु की संज्ञा दी गई है। शत्रुकृत अपमान से रहित होकर ही यश और कीर्त्ति को अखण्डित माना गया है तथा स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र माध्यम अपनाने की प्रेरणा दी गई है[२२]।

अपने राष्ट्र की रक्षा-सुरक्षा हेतु मदालसा जैसी प्रातर्वन्दनीय महिलाओं द्वारा पुत्रों को शिक्षा दी गई है। राजधर्म आर राजनीति का उपदेश दिया गया है। राज्य में प्रजावर्ग की समृद्धिहेतु सभी संभव उपायों की करणीयता पर बल दिया गया है[२३]। राष्ट्र की समृद्धि तथा प्रजावर्ग की तुष्टि एवं पुष्टि करने वाले राष्ट्रनायक की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है और उसकी छत्रच्छाया में रहने की हार्दिक कामना की गई है। उसकी आयु की वृद्धिहेतु भगवान् से प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार अपने राज्य की प्रजा के प्रति स्नेहभाव के कारण राष्ट्रनायकों द्वारा भी प्रजाजनों की आयु की वृद्धिहेतु भगवान् से प्रार्थना की गई है। इस प्रसंग में राजा राज्यवर्धन की कथा उदाहरणीय है[२४]।

राष्ट्र में अपशकुनों को देखकर संभावित राष्ट्रिय विपत्ति को दूर करने के लिए यज्ञ करने और दान देने की भी प्रेरणा पुराणों में प्राप्त होती है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि और दुर्भिक्ष जैसे राष्ट्रिय संकटों का सामना करने के

---

२१. धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभंगं कुलक्षयम्।
परचित्तगतान्दारान् पुत्रं कुव्यसने स्थितम्॥
(वही, पूर्वखण्ड, ११५/३)

२२. (क) स्वाधीनवृत्तेः साफल्यं न पराधीनवृत्तिता।
ये पराधीनकर्माणो जीवन्तोऽपि च ते मृताः॥
(वही, पूर्वखण्ड, ११५/३७)

(ख) स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्यते॥
(ब्रह्मपुराण, २४५/३०)

(ग) अखण्डितयशोवीर्यो यः परैर्नापमानितः॥
(मार्कण्डेयपुराण, १२४/२७)

(घ) नरोऽपि परतन्त्रो यस्तस्य कीदृङ्मनुष्यता?
(वही, १२४/२६)

२३. मार्कण्डेयपुराण, अध्याय २७।

२४. वही, अध्याय १०९-११०।

लिए भी पुराणों में उपदेश दिया गया है[२५] तथा राष्ट्र की रक्षा तथा समृद्धि के लिए विप्रों द्वारा ओम् शब्द के उच्चारण पर भी आस्था प्रकट की गई है[२६]।

राज्य की प्रशासनिक सुव्यवस्था तथा रक्षा-सुरक्षा के उद्देश्य से पुराणों में राजधर्म किंवा राजनीति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके लिए सर्वप्रथम राजा के राज्यभिषेक की प्ररोचनात्मक विधि वताई गई है। अभिषेक-मन्त्रों में राष्ट्र के चेतन तथा अचेतन-उभयविध प्रभावशाली तत्त्वों से राजा के संरक्षण की कामना की गई है। राजा के सहायकों तथा दुर्ग के विषय में भी मार्गदर्शन किया गया है। राजा की जीवनचर्या पर भी प्रकाश डाल दिया गया है ताकि वह सकुशल रहकर राष्ट्र का समुचित भरण-पोषण, रक्षण-संरक्षण आदि कर सके। अपने राज्य की आन्तरिक व्यवस्था तथा शत्रु के आक्रमण से रक्षा करने की दृष्टि से सुदृढ़ और सर्वविध सैन्यव्यवस्था तथा उसकी रणदीक्षा का भी उपदेश दिया गया है तथा साम, दान, दण्ड और भेद की नीति को भी अपनाने की मन्त्रणा दी गई है[२७]। अपने राष्ट्र को समृद्ध न करके जो राष्ट्रनायक अपनी व्यक्तिगत समृद्धि, सुख-शान्ति, परलोकसद्गति आदि चाहते हैं, ऐसे स्वार्थी राष्ट्ररक्षकों को चेतावनी दी गई है कि राष्ट्र की उपेक्षा करके राजा द्वारा किए गए यज्ञ, तप आदि व्यर्थ जाते हैं। साथ ही साथ यह तथ्य भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अपने राष्ट्र का भली भाँति पोषण करने वाले राष्ट्रनायक को मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है[२८]। राष्ट्रहित की दृष्टि से पुराणकार ने यहाँ तक कह दिया है कि यदि किसी राजा के राष्ट्र की प्रजा उसकी लापरवाही के कारण संकटग्रस्त होती है; अथवा उसके स्वयंकृत आचरण से पीड़ित होती

---

२५. मत्स्यपुराण, अध्याय २२७-२३७।

२६. ओंकारशब्दो विप्राणां येन राष्ट्रं प्रवर्धते।
स राजा वर्धते योगाद् व्याधिभिश्च न वध्यते॥
(गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, १११/१५)

२७. (क) अग्निपुराण, अध्याय २१८-२४२।
(ख) मत्स्यपुराण, अध्याय २१४/२२६।

२८. कि यज्ञैस्तपसा तस्य प्रजा यस्य न रक्षिताः।
सुरक्षिताः प्रजा यस्य स्वर्गस्तस्य गृहोपमः॥
(अग्निपुराण, २२३/६)

है; दुःखी होती है; तो उसे चिरकाल तक नरक की यातना भोगनी पड़ती है[२९]। इसी प्रकार राज्यलक्ष्मी भी उसी राजा का साथ देती है जिसे प्रजा का प्रेम प्राप्त होता है[३०]। प्रजा से आयकर ग्रहण करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह आयकर से पीड़ित नहीं हो। जिस प्रकार भ्रमर कुसुम को पीड़ा दिए बिना ही पराग ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि वह प्रजा को पीड़ा पहुँचाए बिना ही आयकर ग्रहण करे[३१]। राजा को इस तथ्य का भी ध्यान रखने का उपदेश दिया गया है कि उसे चाहिए कि वह अपने राज्य के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों की अवज्ञा नहीं करे। क्योंकि इनकी अवज्ञा से ये कुपित होकर उसके राष्ट्र का विनाश कर सकते हैं[३२]।

पुराण ऐसे प्रसंगों का तो भाण्डार ही है जहाँ भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति और सभ्यता की रक्षा हेतु विभिन्न देवी-देवताओं तथा राजा-महाराजाओं ने उक्त संस्कृति और सभ्यता के विरोधी दैत्यों, दानवों, राक्षसों असुरों और म्लेच्छों के साथ संघर्ष और संग्राम किए हैं। ये प्रसंग इतने प्रसिद्ध हैं कि इनका यहाँ विवरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है। किन्तु इन प्रसंगों की इस चर्चा की पृष्ठभूमि में यह तथ्य अवश्य प्रकट करना चाहूँगा कि पुराणों के ये प्रसंग भारतवासियों में भारत, भारतीयता और भारतीय संस्कृति के प्रति ममत्व एवं आत्मगौरव के भावों को उल्लसित करने में निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण हैं।

उल्लेखनीय है कि भविष्यपुराण में कलियुगीन म्लेच्छों तथा म्लेच्छ-राजाओं की उत्पत्ति और सम्पत्ति का वर्णन करके और उनकी भारतीयता-विरोधी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालकर देशभक्त भारतीय नरेशों द्वारा उन पर

---

२९. राष्ट्रपीडाकरो राजा नरके वसते चिरम् ॥

(वही, २२३/७)

३०. जनानुरागप्रभवा राज्ञो राज्यमहीश्रियः ॥

(वही, २२५/३४)

३१. मधुहेव दुहेद् राष्ट्रं कुसुमं च न पातयेत्।
वत्सापेक्षि दुहेत्क्षीरं भूमि गां चैव पार्थिवः ॥

(गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, ११३/५)

३२. वामनपुराण, सरोमाहात्म्य, १८/२५-३५।

विजय प्राप्त करने की कथाएँ कही गई हैं[33]। इन कथाओं के गर्भ में भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत भाषा के ह्रास पर स्थान-स्थान पर विषाद प्रकट किया गया है तथा इनकी पुनरुन्नतिहेतु यथाशक्ति किए गए प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है[34]। इस प्रकरण में अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य,

---

३३. भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, प्रथमखण्ड, अध्याय ४-७; तृतीयखण्ड, अध्याय १-३, ५-६, ३१-३२; चतुर्थ खण्ड, अध्याय १-६, २२-२३.

३४. (क) द्विसहस्रे कलौ प्राप्ते म्लेच्छवंशविवर्धिता।
भूमिर्म्लेच्छमयी सर्वा नानापथविवर्धिता॥
ब्रह्मावर्तमृते तत्र सरस्वत्यास्तटं शुभम्।
म्लेच्छाचार्यश्च मूशाख्यस्तन्मतैः पूरितं जगत्॥
देवार्चनं वेदभाषा नष्टा प्राप्ते कलौ युगे।
तल्लक्षणं शृणु मुने म्लेच्छभाषाश्चतुर्विधाः॥
० ० ०
म्लेच्छदेशे बुद्धिमन्तो नरा वै म्लेच्छधर्मिणः।
म्लेच्छाधीना गुणाः सर्वेऽवगुणा आर्यदेशके॥
म्लेच्छराज्यं भारते च तद्द्वीपेषु स्मृतं तथा।
एवं ज्ञात्वा मुनिश्रेष्ठ हरिं भज महामते॥
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, १/५/२९-४०)

(ख) तेषां मध्ये काश्यपश्च सर्वज्ञानसमन्वितः॥
काश्मीरे प्राप्तवान्सोऽपि जगदम्बां सरस्वतीम्।
तुष्टाव पूजनं कृत्वा रक्तपुष्पैस्तथाक्षतैः॥
० ० ०
मातः शंकरदयिते मयि ते करुणा कुतो नास्ति।
भोऽसि त्वं जगदम्बा जगतः किं मां वहिर्नयसि॥
देवि त्वं सुरहेतोर्धर्मद्रोहिणमाशु हंसि मातः।
उत्तमसंस्कृतभाषां त्वं कुरु म्लेच्छांश्च मोहयेः शीघ्रम्॥
० ० ०
दम्भं मोहं घोरं गर्वं हत्वा सुखं शेषे।
बोधय मातर्जगतो दुष्टान्नष्टान्कुरु त्वं वै॥
तदा प्रसन्ना सा देवी भो मुनेस्तस्य मानसे॥
वासं कृत्वा ददौ ज्ञानं मिश्रदेशे मुनिर्गतः।
सर्वान्म्लेच्छान्मोहयित्वा कृत्वाथ तान्द्विजन्मनः॥
संख्या दशसहस्रं च नरवृन्दं द्विजन्मनाम्।
द्विसहस्रं स्मृता वैश्याः शेषाः शूद्रसुताः स्मृताः॥

भोज, पृथ्वीराज, क्षत्रपति शिवाजी आदि भारतभक्त नरेशों के राष्ट्रोपयोगी कार्यकलापों का उल्लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यहाँ हमारे लिए यह विवेचना करना आवश्यक नहीं है कि भविष्यपुराण का यह अंश मौलिक है या प्रक्षिप्त, क्योंकि हमारे शोध-विषय के लिए इस विवेचना की कोई उपादेयता नहीं है। उसके लिए तो बस तत्पोषणी संस्कृत-साहित्यसम्पत्ति चाहिए; भले ही वह किसी भी काल की हो।

जनमानस में अपने राष्ट्र के प्रति अभिनिवेश और गौरवाधायक आकर्षण उद्दीप्त करने के लिए अपने राष्ट्र (भारत) के नाम की व्युत्पत्ति भी की गई है। इस सन्दर्भ में दो प्रकार की विचारधाराएँ दी गई हैं। कुछ पुराणों में तो राजा ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस राष्ट्र का नाम 'भारत' पड़ा है[३५]; जबकि अन्य कुछ पुराणों में राजा दुष्यन्त के पुत्र

तैः सार्धमार्यदेशे स सरस्वत्याः प्रसादतः।
अवसद् वै मुनिश्रेष्ठो मुनिकार्यरतः सदा॥
तेषामार्यसमूहानां देव्याश्च वरदानतः।
वृद्धिर्भवति वहुला चतुष्कोटिनराः स्त्रियः॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च तद्भूयः काश्यपो मुनिः।
विंशोत्तरशतं वर्षं तस्य राज्यं प्रकीर्त्तितम्॥
(वही, वही, १/६/५-१६)

(ग) यज्ञाशस्तं समालोक्य नत्वा वचनमब्रवीत्।
किं मतं भवता ज्ञातं कलौ प्राप्ते भयानके॥
तत्सर्वं कृपया ब्रूहि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
इति श्रुत्वा तु वचनं जगन्नाथो हरिः स्वयम्॥
उवाच वचनं रम्यं लोकमंगलहेतवे॥
मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः।
संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः॥
शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेदमुत्तमम्।
यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्॥
(वही, वही, १/२०/६६-७३)

३५. (क) तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः॥
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान् मखान्।
अभिषिच्य सुतं ज्येष्ठं भरतं पृथ्वीपतिम्॥

चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस देश को 'भारत' की संज्ञा प्राप्त हुई

तपसे स महाभागः पुलस्त्यस्याश्रमं ययौ ।
वाणप्रस्थविधानेन तत्रापि कृतनिश्चयः ॥

० ० ०

ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ॥

(विष्णुपुराण, २/१/२८-३२)

(ख) अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः............आत्मजानामात्म-समानानां शतं जनयामास ॥ येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥

(श्रीमद्भागवतपुराण, ५/४/८-६)

(ग) ऋषभो मेरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभो दत्तश्रीः पुत्रे शालग्रामे हरिं गतः ॥
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत् ।
भरतो दत्तलक्ष्मीकः शालग्रामे हरिं गतः ॥

(अग्निपुराण, ११७/११-१२)

(घ) नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मेरुदेव्यां महामतिः ॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरत पुत्रवत्सलः ।

० ० ०

हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्यं नाम्ना विदुर्बुधाः ।
भरतस्यात्मजो विद्वान् सुमतिर्नाम धार्मिकः ॥

(लिंगपुराण, पूर्वार्ध, ४७/१६-२४)

(ङ) नाभेः पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥

(स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कु० ख० ३७/५७)

(च) नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाह्वेऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मेरुदेव्यां महाद्युतिम् ॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्रव्रज्यया स्थितः ।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥

है[३६]।

अपने राष्ट्र में सुख, शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि होती रहे; राष्ट्रनायक तथा राष्ट्रसेना प्रसन्नचित्त रहे; अपने राष्ट्र की गर्भवती महिलाएँ कल्याणवती रहें; कन्याएँ कष्ट न पाएँ; राष्ट्र में अन्नसम्पत्ति की वृद्धि होती रहे; गौएँ बहुक्षीरा रहें; राष्ट्र में विद्वान् ब्राह्मणों (वैज्ञानिकों) की कुशलता में वृद्धि हो; समय पर वृष्टि हो; कृषिकार्य अच्छी तरह सम्पन्न हो; निर्भीकता बढ़े; पशु पुष्ट हों; धार्मिक सम्मान पाएँ तथा सभी नागरिक सुख-शान्ति से रहें; इस सबके के लिए पुराणों में भगवदाराधना का भी उपदेश दिया गया है[३७]। इससे प्रतीत होता है कि पुराणकार के मनोमस्तिष्क में राष्ट्रिय-चेतना भी जाग रही थी।

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।
भरतस्यात्मजो विद्वान्सुमतिर्नाम धार्मिकः॥
(ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, प्रक्रियापाद, १४/५९-६२)

३६. (क) दुष्यन्तस्य तु दायादो भरतो नाम वीर्यवान्।
स सर्वदमनो नाम नागायुतबलो महान्॥
चक्रवर्त्ती सुतो जज्ञे दुष्यन्तस्य महात्मनः।
शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारतम्॥
(ब्रह्मपुराण, १३/५६-५७)

(ख) पितुस्तुल्य कृतं राज्यं दुष्यन्तस्तनयस्ततः।
शकुन्तलायां तस्माच्च भरतो नाम भूपतिः॥
पितुस्तुल्यं कृतं राज्यं दुष्यन्तः स्वर्गतिं गतः।
भरतो नाम तत्पुत्रो देवपूजनतत्परः॥
महामायाप्रभावेण षट्त्रिंशद्वर्षजीवनम्।
षट्त्रिंशाब्दसहस्राणि नृपायुर्वर्धितं तथा॥
तस्य नाम्ना स्मृतः खण्डो भारतो नाम विश्रुतः।
तेन भूमेर्विभागश्च कृतं राज्यं पृथक् चिरम्॥
(भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व, ३/३३-३६)

३७. वराह उवाच।
साधु भूमे महाभागे यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
कथयिष्यामि तत्सर्वं दुःखसंसारमोक्षणम्॥
कृत्वा तु मम कार्याणि यत्त्वया पूर्वभाषितम्।
पश्चाच्छान्तिं च मे कुर्याद् भूमे राष्ट्रसुखावहम्॥

पर्वत और नदियाँ

अपने राष्ट्र के पर्वतों, नदियों तथा तीर्थों के प्रति भी आत्मीयता तथा श्रद्धा के भावों को अतिशय प्ररोचनापूर्वक प्रकट करके पुराणों ने भारतीयों के मन में राष्ट्रिय भावना की अमन्द मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है। इस प्रकार के रोचक और प्रेरक वर्णनों से पुराणों का विपुलांश भरा हुआ है। भुवनवर्णन का प्रसंग तो प्रायः सभी पुराणों में आया है। इस अवसर पर जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतभूमि के वर्णनप्रसंग में, जैसा कि पहले भी कहा गया है, महेन्द्रगिरि, मलयगिर, सह्यगिरि, शुक्तिगिरि, ऋक्षगिरि, विन्ध्यगिरि और पारियात्रगिरि नामक सात कुलपर्वतों को कुलपुरुष के समान ही अतीव आदर के साथ वर्णित किया गया है। इन पर्वतों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक पर्वतों का वर्णन हुआ है। इन सभी पर्वतों में हिमगिरि से सम्बन्धित अनेक कथाओं की सर्जना हुई है। कैलाशवासी भगवान् शङ्कर की ससुराल बनने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले तथा अन्य देवताओं की विहारभूमि बनने वाले इस विशालकाय पर्वत की अनेकविध महिमा का वर्णन सुनकर इसके प्रति प्रत्येक भारतीय के मन में सहज आत्मीयतापूर्ण आकर्षण भर जाता है। विन्ध्याचल, सह्याचल, मलयाचल, त्रिकूट आदि अन्य भारतीय पर्वतों की भी

सर्वकर्म ततः कृत्वा भूम्यां जानु निपात्य च।
नमो नारायणायेति उक्त्वा मन्त्रमुदाहरेत्॥
ओं नमो नमो वासुदेव त्वं गतिस्त्वं परायणम्।
शरणं त्वां गतो नाथ संसारार्णवतारक॥
आगतस्त्वं च सुमुख समुचितेन वै पुनः।
दिशः पश्य अधः पश्य व्याधिभ्यो रक्ष नित्यशः॥
प्रसीद स्वस्य राष्ट्रस्य राज्ञः सर्वबलस्य च।
गर्भिणीनां च वृद्धानां व्रीहिणां च गवां तथा॥
ब्राह्मणानां च सततं शान्ति कुरु शुभं कुरु॥
अन्नं कुरु सुवृष्टिं च सुभिक्षमभयं तथा।
राष्ट्रं प्रवर्धतु विभो शान्तिर्भवतु नित्यशः॥
देवानां ब्राह्मणानां च भक्तानां कन्यकासु च।
पशूनां सर्वभूतानां शान्तिर्भवतु नित्यशः॥
एवं शान्तिं पठित्वा तु मम कर्मपरायणः।
पुनर्जलांजलिं दत्वा इमं मन्त्रमुदाहरेत्॥

(वराहपुराण, १९२/४-१२)

भव्यता, रम्यता, उपादेयता तथा लोकप्रियता पर प्रकाश डालकर इनके प्रति जनमानस को जागरूक किया गया है।

इसी प्रकार उपर्युक्त भिन्न-भिन्न पर्वतों से उद्भूत होने वाली गंगा, अलकनन्दा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, गोमती, सरयू, शतद्रु (सतलज), विपाशा (व्यास), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा, चर्मण्वती (चम्बल), वेत्रवती, निर्विन्ध्या, रेवा, शिप्रा, तमसा, नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, गण्डकी, कृष्णा, कावेरी, तुंगभद्रा आदि अनेक पावनी सरिताओं का बड़े ही अभिनिवेश और ममत्व के साथ वर्णन किया गया है। इनकी आर्थिक उपादेयता के साथ ही साथ इनकी धार्मिक उपयोगिता को भी रोचकतापूर्वक अभिव्यक्त करके इनके प्रति भारतीयों के मनोमस्तिष्क का रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा गया है[३८]।

तीर्थ

पुराणों में भारतभूमि पर स्थित सहस्रों तीर्थस्थानों का भी हृदयस्पर्शी प्रतिपादन हुआ है। भारतवर्षीय तीर्थों की महिमा पर बहुमुखी उपादेय प्रकाश डालते हुए पुष्कर, नैमिषारण्य, प्रयाग, धर्मारण्य, चम्पकारण्य, सैन्धवारण्य, मगधारण्य, दण्डकारण्य, भीमारण्य, मन्दरारण्य, गया, प्रभास, कनखल, भृगुतुंग, केदार, बदरी, चक्रतीर्थ, योगतीर्थ, सोमतीर्थ, कोटितीर्थ, रूपतीर्थ, गंगाद्वार, पंचकूट, स्कन्दाश्रम, अग्निपद, चक्रप्रभ, विष्णुतीर्थ, ब्रह्मकुण्ड, वह्निकुण्ड,

---

३८. (क) ब्रह्मपुराण, १९/१-२७, २७/१-७८, ७२/१-३६
(ख) पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय ६-९
(ग) विष्णुपुराण, २/३/१-२६
(घ) शिवमहापुराण, ५/१८/१-२१
(ङ) वायुपुराण, ४५/६९-१३७
(च) भागवतपुराण, पंचम स्कन्ध, अध्याय १९
(छ) मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५४-५९
(ज) अग्निपुराण, अध्याय ११८-११९
(झ) वराहपुराण, अध्याय ७८-८५
(ञ) स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड, ३९/११०-१२०
(ट) वामनपुराण, अध्याय १३ तथा ५८
(ठ) कूर्मपुराण, १/४५/२०-४५
(ड) मत्स्यपुराण, अध्याय ११२-१२१
(ढ) गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय ५५
(ण) ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वभाग, अध्याय १६

सत्यपद, मानस, उर्वशीतीर्थ, मेरुकुण्ड, सोमाभिषेचन, सप्तधार, पंचधार, त्रिधार, एकधार, शालग्राम, बिल्वप्रभ, देवह्लद, विष्णुह्लद, मणिपूरगिरि, कन्याश्रम, ययातिपतन, भद्रवट, महाकालवन, नर्मदातीर्थ, अर्बुद, पिंगुतीर्थ, शक्रतीर्थ, पंचनद, रेणुकातीर्थ, पैतामह, रुद्रपाद, कामाख्य, नर्मदोद्भेद, सिद्धेश्वर, कालिकाश्रम, कौशाम्बी, स्यमन्तपंचक, ब्रह्मतीर्थ, सुदर्शन, पारिप्लव, दशाश्वमेधिक, वाराह, यक्षिणीह्लद, कपिलातीर्थ, पंचतीर्थ, सूर्यतीर्थ, यक्षराजतीर्थ, ब्रह्मावर्त, कामेश्वर, मातृतीर्थ, दशाश्वमेध, सप्तर्षिकुण्ड, मिश्रक, ऋणमोचन, नैमिषेय, त्रिशूलधार, माहेन्द्र, शाकम्भरी, कपालमोचन, काम्यक, पंचवट, कुरुतीर्थ, स्वर्गद्वार, गंगाह्लद, भद्रकालीह्लद, अरुन्वतीवन, यमुनाप्रभव, सिन्धूत्थ, अशोकवन, कामद, शुक्रतीर्थ, पिशाचमोचन, चण्डेश्वरतीर्थ, ब्रह्मसर, जैगीषव्यगुहा, घण्टाकर्णह्लद, पुण्डरीकह्लद, कर्कोटकवाटी, विनायकह्लद, नागतीर्थ, कुशावर्त, शृंगतीर्थ, सावित्रीह्लद, सीतावन, मतंगह्लद, सप्तकुण्ड, वसिष्ठाश्रम, कुमारधारा, श्रीधारा, गौरीशिखर, नन्दितीर्थ, धर्मतीर्थ, कामतीर्थ, उद्दालकतीर्थ, लोहितार्णव, शोणोद्भव, ऋषभतीर्थ, मार्कण्डेयवन, इन्द्रद्युम्नसर, कावेरीह्लद, कन्यातीर्थ, गोकर्णतीर्थ, मार्कण्डेयह्लद, नृसिंहतीर्थ, हरद्वार, गंगासागरसंगम, शूकरक्षेत्र, मथुरा, चित्रकूट, द्वारका, अमरकण्टक, काशी, कपोततीर्थ, कुमारतीर्थ, कृत्तिकातीर्थ, चक्रतीर्थ, जनस्थानतीर्थ, गरुडतीर्थ, गोवर्धनतीर्थ, पापप्रणाशनतीर्थ, विश्वामित्रतीर्थ, श्वेततीर्थ, पौलस्त्यतीर्थ, अग्नितीर्थ, ऋणप्रमोचनतीर्थ, कद्रूसुपर्णासंगमतीर्थ, शमीतीर्थ, वृद्धासंगमतीर्थ, इलातीर्थ, पिप्पलतीर्थ, मातृतीर्थ, अविघ्नतीर्थ, शेषतीर्थ, वडवातीर्थ, आत्मतीर्थ, धान्यतीर्थ, विदर्भासंगमतीर्थ, रेवतीसंगमतीर्थ, पूर्णादितीर्थ, रामतीर्थ, पुत्रतीर्थ, यमतीर्थ, तपस्तीर्थ, देवतीर्थ, तपोवनतीर्थ, इन्द्रतीर्थ, आपस्तम्बतीर्थ, शुक्लतीर्थ, वाणीसंगमतीर्थ, विष्णुतीर्थ, लक्ष्मीतीर्थ, खड्गतीर्थ, कपिलासंगमतीर्थ, सिद्धतीर्थ, कालंजरतीर्थ, नारसिंहतीर्थ, सहस्रकुण्डतीर्थ, व्यासतीर्थ, कुशतर्पणतीर्थ, सारस्वततीर्थ, चिच्चिकतीर्थ, विप्रतीर्थ, भानुतीर्थ, भिल्लतीर्थ, चक्षुस्तीर्थ, उर्वशीतीर्थ, सामुद्रतीर्थ, भीमेश्वरतीर्थ, पुष्करतीर्थ, ज्वालेश्वरतीर्थ, कावेरीनर्मदासंगमतीर्थ, पत्रेश्वरतीर्थ, शूलभेदतीर्थ, भार्गवेश्वरतीर्थ, विहगेश्वरतीर्थ, वितस्तातीर्थ, तक्षकतीर्थ, नागतीर्थ, कलापवन, सोमेश्वर-मल्लिकार्जुनेश्वर-महाकालेश्वर-ओंकारेश्वर-केदारेश्वर-भीमेश्वर-विश्वेश्वर-त्र्यम्बकेश्वर--वैद्यनाथेश्वर नागेश्वर-रामेश्वर-घुश्मेश्वर नामक द्वादश, ज्योतिर्लिङ्गतीर्थ, गंगागोमतीसंगम, सागरतीर्थ, वामनतीर्थ, अयोध्यातीर्थ, महीसागरतीर्थ, पुष्करतीर्थ, अरुणेश्वर-

तीर्थ, वेंकटाचलतीर्थ, रामकृष्णतीर्थ, जाबालितीर्थ, सरस्तीर्थ, कुरुक्षेत्र, अदितिवन, सवनतीर्थ, दक्षाश्रम, अश्वितीर्थ, रामह्रद, फलकीवन, वेदवतीतीर्थ, अवकीर्णतीर्थ, दुर्गातीर्थ, स्थाणुतीर्थ, प्रह्लादतीर्थ, अंगारेश्वरतीर्थ, कुण्डलेश्वरतीर्थ, ऋषितीर्थ, स्कन्देश्वरतीर्थ, वटेश्वरतीर्थ, वामदेवतीर्थ, नर्मदोदधिसंगमतीर्थ, शम्भलतीर्थ, रामगिरितीर्थ, सेतुबन्धतीर्थ, कामतीर्थ, कुब्जाम्रकतीर्थ, नर्मदाभेदतीर्थ, नासिक्यतीर्थ, बिन्दुसरस्तीर्थ, प्रभासतीर्थ, फल्गुतीर्थ, प्रेतशिलातीर्थ आदि बहुसंख्यक तीर्थों का पुराणों में हृदयस्पर्शी वर्णन उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों तीर्थस्थानों का पुराणों में उल्लेख उपलब्ध होता है। पद्मपुराण, वामनपुराण आदि कुछ पुराणों में इनकी यात्रा के क्रम एवं विधि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तदनुसार तीर्थयात्रा करने वाले को अपनी मातृभूमि समग्र भारतभूमि के दर्शन का परमलाभ प्राप्त हो जाता है[३९]।

---

३९. (क) ब्रह्मपुराण, अध्याय २५-२६,५७,६३,७९-१७७
(ख) पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय १०-१४, १६-२१, २४-२६
(ग) वायुपुराण, अध्याय ७७, १०५-११२
(घ) शिवमहापुराण, कोटिरुद्रसंहिता, अध्याय १५-३३
(ङ) बृहन्नारदीयपुराण, अध्याय ६
(च) अग्निपुराण, अध्याय १०९-११६
(छ) स्कन्दपुराण,:—
(क) माहेश्वरखण्ड, कौमारिकाखण्ड, अध्याय ५३-५४,५८,६५
(ख) माहेश्वरखण्ड, अरुणाचलमाहात्म्य, पूर्वार्ध, अध्याय २, ६-९
(ग) वैष्णवखण्ड, वेंकटाचलमाहात्म्य, अध्याय १२-१९, २३-३८
(घ) वैष्णवखण्ड, पुरुषोत्तम (जगन्नाथ) क्षेत्रमाहात्म्य, अध्याय ३०
(ङ) वैष्णवखण्ड, श्रीबदरिकाश्रममाहात्म्य, अध्याय १-८
(च) वैष्णवखण्ड, अयोध्यामाहात्म्य, अध्याय १-२, ६-१०
(छ) काशीखण्ड, अध्याय ६-७, ३०, ५८-५९, ८३-८४, ९७-१००
(ज) वामनपुराणः—
(क) सरोमाहात्म्य, अध्याय १,११-२१, २४-२७
(ख) अध्याय ३, ५२, ५५, ५७, ६३
(झ) कूर्मपुराणः—
(क) पूर्वविभाग, अध्याय २९-३७
(ख) उपरिविभाग, अध्याय ३४-४२
(ञ) मत्स्यपुराण, अध्याय २२, १०२-११०, १८०-१९४

इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं है कि धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, तथा श्रद्धा-भक्ति, पूजा-पाठ, जप-तप, दान-दक्षिणा आदि आस्तिक विचारों पर आस्था रखने वाले भारतीय व्यक्तियों के लिए ये तीर्थस्थान अतीव महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि इनके साथ उनका सांस्कृतिक सम्बन्ध होता है। फलस्वरूप उनकी मनोभूमि में तीर्थयात्रा की कामनावल्लरी भी सदैव लहलहाती रहती है और अवसर पाते ही वह अपनी कामना को पूरा भी करते हैं।

चूँकि पुराणों में वर्णित ये सभी तीर्थ भारतभूमि के किसी एक ही क्षेत्र विशेष में नहीं पाए जाते हैं, अतः इनके विधिवत् दर्शन का लाभ प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को समग्र भारतवर्ष की यात्रा करनी होती है। जीवन में परम अभीष्ट इस पुण्यकार्य को सम्पन्न करने के लिए वह भारतवर्ष के चप्पे-चप्पे पर जाता है और उसके कण-कण से भक्तिपूर्वक परिचित होता है। फलस्वरूप उसके हृदय में अपने देश के प्रति भी एक अनिर्वचनीय और अदमनीय रागात्मक सम्बन्ध सुदृढ़ हो जाता है और वह अपने समग्र राष्ट्र के साथ अपनी आत्मीयता के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण जुड़ जाता है।

वर्णाश्रमधर्म

आज भी भारतीय संस्कृति में वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। हमारे पुरातन ऋषियों ने भारतीय समाज के जीवन को इन्हीं के द्वारा व्यवस्थित किया था। इनके स्वरूप और धर्मों में आस्थालु होकर भारतीय समाज के सभी वर्गों के लोग अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए सुख, समृद्धि, शान्ति, एकता और सहास्तित्व का अनुभव भी करते रहे हैं। इसीलिए अनेक पुराणों में वर्णाश्रमधर्मों का भी भली भाँति वर्णन किया गया है, जिसका सारसर्वस्व यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

ब्रह्मपुराण में सदाचारनिरूपण के पश्चात् मुनियों की प्रार्थना पर वेदव्यास ने भारतीय समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र संज्ञक चारों वर्णों एवं ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास संज्ञक चारों आश्रमों के धर्मों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ब्राह्मण को चाहिए कि वह दया, तप यज्ञ

(ट) गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय ८१-८६

(ठ) ब्रह्माण्डपुराण:—

(क) ललितोपाख्यान, अध्याय ५

(ख) मध्यभाग, उपोद्घातपाद, अध्याय १३

और स्वाध्याय में सतत प्रवृत्त रहे, जीविकाहेतु अध्यापन करे तथा सभी वर्णों के साथ सौहार्द रखे। क्षत्रिय को चाहिए कि वह ब्राह्मणों को दान दे; यज्ञ करे; अध्ययन करे; शस्त्रास्त्रों को धारण करे; पृथ्वी (अपने देश तथा देशवासियों) की रक्षा करे; पालन करे; दुष्टों को दण्ड दे; सज्जनों को प्रतिष्ठित करे; और राज्य करे। वैश्य को चाहिए कि वह कृषि करे, पशुओं का पालन करे, व्यापार करे; अध्ययन करे; यज्ञ करे; और दान भी दे। शूद्र को चाहिए कि वह दान दे; पाकयज्ञ करे और पितृकर्म भी करे। इनके अतिरिक्त सत्यवादिता, सहनशीलता, निरभिमानिता, शुचिता, प्रियवादिता, अकृपणता आदि कुछ सामान्य धर्म भी गिनाए गए हैं जो सभी वर्णों के लोगों के लिए विहित हैं। आश्रमव्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह गुरु के गृह में निवास करे; ब्रह्मचर्य का पालन करे; गुरु की सेवा करे; व्रतोपवासादि करे; वेदाध्ययन करे; सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म करे, गुरु की मान-मर्यादा की रक्षा करे और अध्ययन की समाप्ति पर गुरुदक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। गृहस्थ वनने पर उसे चाहिए कि वह विहित अर्थोपार्जन करे; परिवारजनों का पालन करे; पंचयज्ञ करे; अतिथियों की सेवा पर विशेष ध्यान दे; सबके साथ सद्व्यवहार करे; और अवस्था के परिपक्व हो जाने पर तथा गार्हस्थ्य के दायित्वों की पूर्त्ति हो जाने पर अपनी पत्नी को या तो पुत्रों को सौंपकर या फिर अपने साथ लेकर वन चला जाय। वानप्रस्थाश्रमी बनने पर उसे चाहिए कि वह कन्द-मूल-फल-पत्रादि को खाकर जीवन धारण करे; सभी केशों को बढ़ने दे; भूमि पर शयन करे; मननशील बने; तीनों कालों में स्नान करे; देवताओं का पूजन करे; सभी अभ्यागतों का सत्कार करे; और फिर सभी रागरज्जुओं को तोड़कर संन्यासी हो जाय। संन्यासी होने पर उसे चाहिए कि वह प्राणिमात्र में समानबुद्धि रखे; सृष्टि के किसी भी जीव-जन्तु से द्रोह नहीं करे; सभी प्रकार के संगों को त्याग दे; किसी भी ग्राम में एक रात से अधिक तथा किसी भी नगर में पाँच रातों से अधिक नहीं रहे; किसी से प्रीति भी नहीं करे; केवल प्राणरक्षाहेतु उच्च वर्ण के घरों से भिक्षा प्राप्त करे; यदि कहीं भिक्षा नहीं प्राप्त हो तो दुःख या क्रोध नहीं करे और प्राप्त होने पर हर्षानुभव भी नहीं करे तथा सम्मान और लाभ से भी बचते हुए अपना जीवनयापन करे[४०]।

---

४०. ब्रह्मपुराण, अध्याय २२२

पद्मपुराण में वर्णधर्मों के विश्लेषण पर तो नहीं, पर आश्रमधर्मों के विश्लेषण पर पर्याप्त बल दिया गया है। इस प्रसंग में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य कार्यों का विस्तारपूर्वक विवरण उपलब्ध होता है[४१]।

विष्णुपुराण में ब्रह्मपुराण की शब्दावली एवं भावावली से ही मिलती-जुलती शब्दावली में वर्णाश्रमधर्मों पर प्रकाश डाला गया है[४२]। इसके अतिरिक्त पद्मपुराण की भाँति इसमें ब्रह्मचर्य तथा गार्हस्थ्य आश्रमवासियों के कार्याकार्यों की भी क्रमिक सूची दी गई है[४३]। इसी प्रकार बृहन्नारदीयपुराण, मार्कण्डेयपुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, स्कन्दपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण और गरुडपुराण में भी वर्णचतुष्टय तथा आश्रम-चतुष्टय के धर्मों (कर्त्तव्यों तथा अकर्त्तव्यों) का बड़ी ही विशदता के साथ प्रतिपादन हुआ है। आपत्तिकाल में किंवा विशेष परिस्थितियों में इन धर्मों का पालन करने की व्यवस्था में कुछ औचितीपूर्ण छूट भी दी गई है[४४]।

---

४१. पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय ५१-६१

४२. (क) विष्णुपुराण, तृतीयांश, अध्याय ८-९
(ख) ब्रह्मपुराण, अध्याय २२२

४३. (क) विष्णुपुराण, तृतीयांश, अध्याय १०-१२
(ख) पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड, अध्याय ५१-५७

४४. (क) बृहन्नारदीयपुराण, अध्याय २२-२५
(ख) मार्कण्डेयपुराण, अध्याय २८-३०
(ग) अग्निपुराण, अध्याय १५१-१६२
(घ) भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व, अध्याय ४३-४४, १८२-१८३
(ङ) ब्रह्मवैवर्तपुराण, द्वितीयभाग (श्रीकृष्णजन्मखण्डात्मक) अध्याय ८३-८५
(च) स्कन्दपुराण:—
(अ) वैष्णवखण्ड, श्रीवासुदेवमाहात्म्य, अध्याय २०-२३
(आ) काशीखण्ड, अध्याय ३६-३८, ४०
(छ) कूर्मपुराण:—
(अ) पूर्वविभाग, अध्याय २-३
(आ) उपरिविभाग, अध्याय १२-२९
(ज) मत्स्यपुराण, अध्याय ४०
(झ) गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, अध्याय ३९, ९३-९६, १०२-१०३

सर्वमंगलकामना

पुराणों में विश्व के प्राणिमात्र के कल्याण की भी कामना की गई है; सभी के नैरुज्य को चाहा गया है; और कोई भी दु:खी न हो एतदर्थं परमात्मा से प्रार्थना की गई है, जो भारतीय मनीषा को अन्ताराष्ट्रिय सद्भाव से जोड़ती है[४५]।

४५. (क) भविष्यपुराण, ३/२/३५/१४
(ख) गरुडपुराण, उत्तरखण्ड, ३५/५१

(४)

उपजीव्य काव्यों में राष्ट्रिय भावना

उपजीव्य काव्य

प्रत्येक विकसित राष्ट्र में कुछ ऐसे ग्रन्थरत्न हुआ करते हैं जिनमें वहाँ की राष्ट्रिय संस्कृति, धार्मिक मर्यादा एवं दार्शनिक विचारधारा की त्रिवेणी का संगम होता है। ऐसे ही ग्रन्थ राष्ट्र के अक्षय जीवनस्रोत होते हैं; उसके परिचायक होते हैं; उसकी अनुपम निधि होते हैं; गौरव होते हैं; आराध्य होते हैं; प्रकाश होते हैं; प्राण होते हैं; आत्मा होते हैं; और यहाँ तक कि, सर्वस्व होते हैं। इन ग्रन्थों में राष्ट्र की साहित्यिक सुधा के भी अनेक उत्स होते हैं, जहाँ से स्वराष्ट्रानुरागी रससिद्ध साहित्यकार अपनी संवेदना के अनुरूप कथानक का आहरण करके अपनी प्रतिभा के बल पर नियतिकृत-नियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा एवं नवरसरुचिरा साहित्यसर्जना करते हैं, जिससे देश की साहित्यिक सम्पदा में स्पृहणीय श्रीवृद्धि होती है और राष्ट्रिय चरित्र एवं धर्म के गौरव का विकास होता है। फलस्वरूप व्यक्तियों में अपने राष्ट्र के प्रति आत्मीयता, अनुराग, आदर, स्वाभिमान एवं कर्त्तव्य की क्रियाशील भावना का उदय और उद्रेक होता रहता है, जो राष्ट्र की सार्वभौम प्रतिष्ठा के लिए परम आवश्यक भी होता है।

चूँकि इन ग्रन्थरत्नों से अनेक साहित्यकारों की साहित्यसम्पदा को आधार मिलता है; जीवन मिलता है; अतः इन्हे भारतीय दृष्टि से 'उपजीव्य-काव्य' की भी संज्ञा दी जाती है। इस प्रसंग में यह स्मरण दिलाना असंगत न होगा कि ऐसे ग्रन्थों को पाश्चात्य मनीषियों ने 'एपिक आफ ग्रोथ' कहा है।

हमारे भारतवर्ष में तीन विशालकाय उपजीव्य काव्य हैं—१. रामायण, २. महाभारत और ३. श्रीमद्भागवत। क्योंकि हमारे भारतीय साहित्य का

आज भी अधिकांश भाग इन्हीं ग्रन्थरत्नों से उपजीवित हो रहा है। हमारा विश्वास है कि इन तीन ग्रन्थरत्नों में भारत की आत्मा रहती है। संस्कृति, नीति, धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला, राष्ट्रियता आदि उसका सब कुछ इन्हीं ग्रन्थरत्नों में मौलिक रूप से निहित है।

प्रस्तुत अध्याय में अब प्रकृत शोधविषय के अनुसार उपर्युक्त तीनों उपजीव्य काव्यों में उपलभ्य होने वाली केवल 'राष्ट्रियभावना' की ही गवेषणा क्रमशः की जाएगी।

रामायण में राष्ट्रियभावना

महर्षि वाल्मीकि प्रणीत रामायण से प्रत्येक मनीषी परिचित है। चौबीस हजार श्लोकों वाले इस विशालकाय उपजीव्य काव्य की प्रमुख घटना है—युद्ध में राम की रावण पर विजय। इसके अतिरिक्त भी महर्षि ने अपने चरितनायक श्रीराम के समग्र जीवनचरित का अतीव भव्य एवं मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिसका स्वाध्याय करते समय पाठक आत्मविभोर हो जाता है।

हमारे आदिकवि की संवेदना राष्ट्र की समृद्धि के प्रति पर्याप्तरूपेण जागरूक है। प्रजा के योग-क्षेम का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में उनकी लेखनी बड़ी ही निपुण और अनलस रही है। सम्राट् दशरथ और सम्राट् श्रीराम के राज्यकाल में प्रजाजनों की स्थिति के वर्णन के माध्यम से उन्होंने अपना यह मनोभाव प्रकट कर दिया है कि राष्ट्र की प्रजा तन-मन और धन से समृद्ध होनी चाहिए। उनमें सभी धर्मात्मा हों; सुशिक्षित हों; सत्यवादी हों; अपनी सम्पत्ति से सन्तुष्ट रहने वाले हों; सम्पत्तिमान् हों; संयमी हों; प्रसन्नचित्त हों; देवताप्रिय हों; कृतज्ञ हों; शूरवीर हों; पराक्रमी हों; दीर्घायु हों; स्त्री-पुत्र-पौत्रों से युक्त हों; परस्पर प्रीतिमान् हों; स्वच्छ वेशभूषा वाले हों; राजा के हितैषी हों; जागरूक हों; नीरोग हों; हृष्ट-पुष्ट हों; और उसमें लोभी न हों; अपूर्ण न हों; कामी न हों; कायर न हों; क्रूर न हों; मूर्ख न हों; नास्तिक न हों; निराभरण न हों; मलिन न हों; दुर्गन्धित न हों; असंयत न हों; क्षुद्र न हों; चोर न हों; दुराचारी न हों; अवैध न हों; मिथ्यावादी न हों; ईर्ष्यालु न हों; दुर्बल न हों; अवैदिक न हों; दीन न हों; विक्षिप्तचित्त न हों; व्यथित न हों; कुरूप न हों; तथा

राजद्रोही न हों[1]।

आदिकवि की यह भी भावना रही है कि राजा को सदैव अपने राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाते रहना चाहिए; उसकी सुरक्षा हेतु सैन्यादि की सदैव उत्तम व्यवस्था रखनी चाहिए; राष्ट्रिय संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते रहना चाहिए; प्रशासन एवं न्याय की मान्य एवं पर्याप्त व्यवस्था रखनी चाहिए; अपने सदाचारसम्पन्न आचरण से अपनी लोकप्रियता बढ़ाते रहना चाहिए; राज्यव्यवस्था हेतु अमात्यमण्डल एवं मन्त्रिमण्डल में राष्ट्रभक्त, सत्यनिष्ठ, निर्लोभ, कुलीन, सदाचारपरायण और स्वाध्यायशील मनीषियों की नियुक्ति करनी चाहिए; मन्त्रणा की गोपनियता पर ध्यान देना चाहिए; सेनापति भी ऐसे ही व्यक्ति को बनाना चाहिए जो सन्तुष्ट रहने वाला, पराक्रमशाली, धैर्यशाली, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन तथा अपने में (राजा में) प्रेम, आदर और श्रद्धा रखने वाला तथा रणविद्यापरंगत हो; सम्पूर्ण सेना को भी वेतन एवं सम्मानद उपहारों से सन्तुष्ट रखना चाहिए; राजदूत के पद पर भी देशानुरागी मनीषी एवं वाग्मी व्यक्ति की नियुक्ति करनी चाहिए; शत्रुपक्ष की कभी उपेक्षा नहीं चाहिए; शिक्षा, वाणिज्य और कृषि का समुचित तथा उत्तरोत्तर विकास करते रहना चाहिए; वनसम्पदा, पशुसम्पदा और अन्न-सम्पदा का सदैव विकास करते रहना चाहिए; जनता से उतना ही आयकर ग्रहण करना चाहिए जितना परमोचित हो; राष्ट्रिय धन का दुरुपयोग भी नहीं करना चाहिए; सम्माननीयजनों की अवमानना अथवा अवहेलना नहीं करनी चाहिए; धर्म, अर्थ, और काम नामक पुरुषार्थों के पालन में विसंगति अथवा असामयिकता नहीं आने देनी चाहिए; कर्कश, दुर्बुद्धि, अजितेन्द्रिय एवं स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए; सत्य एवं धैर्य का पालन करना चाहिए, आस्तिकभाव रखना चाहिए; विमर्शपूर्वक ही कार्य करना चाहिए; देश एवं काल के विपरीत कार्य नहीं करना चाहिए; सामादि नीतियों का उचित उपयोग करना चाहिए; आपातरमणीय किन्तु अशुभोदर्क कार्य को भूलकर भी नहीं करना चाहिए; संक्षेप में कहा जा सकता कि राजा को अपने राष्ट्र की अच्छी तरह से देखभाल करनी चाहिए[2]।

---

१. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, ६/६-१६, ७/१४-१६, अयोध्याकाण्ड, ३/५१, ३४/४१, ५५, ३७/२६, १००/२७; उत्तरकाण्ड, ४१/१७-२०, ६६/११-१४

२. वही, बालकाण्ड, ५/५-२३, ६/१-२८, ७/१-२४, ७७/२४-२५; अयोध्याकाण्ड, ३/३८-

राष्ट्रिय राजधानी की सुरक्षा की ओर भी आदिकवि का पूरा-पूरा ध्यान है। उनका अभिप्राय रहा है कि राजधानी के चारों ओर पर्याप्त चौड़ी, गम्भीर, सजल एवं दुर्गम खाई होनी चाहिए; ऊँची दुरारोह चारदीवारी होनी चाहिए; नगरप्रवेशहेतु उसमें जो द्वार बनाए जाएँ वे दुर्भेद्य लौह-कपाटों एवं लौहशृंखला से युक्त होने चाहिए; द्वारों पर उत्तमकोटि के यन्त्र लगे होने चाहिए जिनके द्वारा गोले और पाषाणखण्डों की तीव्र मार से शत्रुओं की बढ़ती हुई सेना को रोका जा सके; अस्त्र-शस्त्रों का पर्याप्त भाण्डार होना चाहिए; शत्रुसेना पर सब ओर से प्रत्याक्रमण करने की दृष्टि से नगरपरिखा को पार करने के लिए उसपर स्थान-स्थान पर संवरणीय (फोल्डिंग) पुल होने चाहिए; राजधानी के सब ओर स्थान-स्थान पर सभी प्रकार के सुरक्षा सैनिक विपुल संख्या में सतत नियुक्त रहने चाहिए; और सेना भी सुव्यवस्थित तथा सुपर्याप्त होनी चाहिए[३]।

राष्ट्रिय (भारतीय) संस्कृति के प्रति भी महर्षि जागरूक रहे हैं। सम्राट् दशरथ द्वारा सम्पन्न कराए गए पुत्रेष्टि यज्ञ में श्रीराम, लक्ष्मण आदि के जन्मकाल में, विश्वामित्र के यज्ञानुष्ठानों में, श्रीरामादि के विवाह संस्कार में, श्रीराम के राज्याभिषेक महोत्सवों में और दशरथ के अन्त्येष्टि संस्कार में आदिकवि द्वारा भारतीय संस्कृति का पूर्णरूपेण अनुपालन किया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि चरितनायक श्रीराम को ता उन्होंने भारतीय संस्कृति की रक्षा एवं प्रसार के लिए सदैव सर्वात्मना संनद्ध रखा है। यदि सूक्ष्मेक्षिका से विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि रामायण में वर्णित संघर्ष व्यक्ति-विशेषों के मध्य हुआ संघर्ष नहीं है। वह तो दो संस्कृतियों का संघर्ष है, जिन्हे हम आर्यसंस्कृति और अनार्यसंस्कृति कह सकते हैं। वह दो प्रजातियों का संघर्ष है, जो मानवप्रजाति एवं राक्षसप्रजाति के नाम से प्रसिद्ध हैं। वह दो देशों का संघर्ष है, जिन्हें हम आर्यदेश और अनार्यदेश का नाम दे सकते हैं। इस संघर्ष में राम एवं लक्ष्मण आर्यसंस्कृति, मानवप्रजाति तथा आर्यदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर, दूषण,

---

४६, १००/११-७६, १०९/९-३६; अरण्यकाण्ड ४१/५ १५; युद्धकाण्ड, १२/३० ३३, ६३/५-२०, १३२/२ ११; उत्तरकाण्ड, ३९/३-२८

३. वही, बालकाण्ड, ५/९-१३, ६/२०-२८; अयोध्याकाण्ड १००/४० ४२,५३; युद्धकाण्ड ३/१-२७

त्रिशिरा, सुवाहु, मारीच, कवन्ध, विराध, शूर्पणखा, ताटका आदि अनार्य-संस्कृति, राक्षसप्रजाति तथा अनार्यदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुग्रीव, हनुमान्, अंगद आदि यद्यपि मानवप्रजाति के नहीं हैं, किन्तु ये सभी आर्यदेश के निवासी हैं और इन्हें अपने देश पर गर्व भी है। महर्षि ने संघर्ष के इस हेतु की स्थान-स्थान पर चर्चा की है। विश्वामित्र-दशरथ-संवाद से यह तथ्य उभरता है कि अपने आर्यदेश में घुसे हुए मारीच, सुवाहु और ताटका जैसे राक्षसजातीय अनार्यों पर जो आर्य-संस्कृति और मानवजाति के विरोधी थे, विजय पाने के लिए ही विश्वामित्र राम को लेने दशरथ के पास आते हैं (वालकाण्ड १६/४-२०, २०/१-२८)। राम-विश्वामित्र संवाद से भी यही तथ्य उजागर होता है (वही, २४/५-३२, २५/१-१६)। राम ने विराध का भी वध इसीलिए किया है कि वह आर्यसंस्कृति का शत्रु था (अरण्यकाण्ड ३/४-६)। इस प्रसंग में यह स्मरण दिलाना भी संगत ही है कि आर्यदेशीय वानप्रस्थ मुनियों के साथ अनार्यदेशीय राक्षसों के निर्मम प्राणघातक अत्याचारों के परिणाम को जब श्रीराम ने अपने वनवासकाल में प्रत्यक्ष देखा तभी उन्होंने आर्यदेश से अनार्यों का समूलोन्मूलन करने की प्रतिज्ञा की थी (वही, ६/१-२५)। दूसरी ओर शूर्पणखा ने भी खर को राम-लक्ष्मण के विरुद्ध यही कहकर उत्तेजित किया था कि वे दोनों मानवजाति के हैं, आर्य हैं, आर्यसंस्कृति से सम्पन्न हैं और राक्षसजाति के शत्रु हैं (वही, १६/१-२०, २१/१-२२, ३२/१-६)। उसने रावण को भी राक्षसजाति की दुहाई देकर रामलक्ष्मण नाम के मानवों से प्रतिशोध लेने को प्रेरित किया है (वही, ३३/१-२४, ६४/१-२६)। राक्षसराज रावण उसकी तर्कयुक्त वातों से प्रभावित भी होता है। क्योंकि वह अपनी राक्षस प्रजाति एव राक्षस संस्कृति की मान-मर्यादा को ऊँचा करने के लिए तथा मानव प्रजाति एवं मानव संस्कृति को नीचा दिखाने लिए सीताहरण की योजना वनाकर मारीच से मिलता है और इस योजना में सक्रिय सहायता देने के लिए उसे स्वर्ण का कपटमृग वनने के लिए वाध्य करता है (वही, ३६/१-२८)। अशोकवाटिका में एक ओर तो धान्यमालिनी नामक राक्षसजातीया रावणपत्नी रावण के मन को सीता की ओर से इसी तर्क के आधार पर हटाना चाहती है कि सीता तो मानवी है (सुन्दरकाण्ड २२/४०-४१); दूसरी ओर राक्षसी परिचारिकाएँ सीता को प्रेरणा देती हैं कि वह मानव को त्याग कर राक्षसराज की भार्या वन जाए और सभी सुखों का उपभोग करे (वही, २३/३-१६, २४/१-५)।

सीता भी दृढ़तापूर्वक उत्तर देती है कि किसी भी मानवी को राक्षस की भार्या नहीं बनना चाहिए (वही, २४/८)। वह अपने इस सांस्कृतिक निर्णय को दुहराती भी हैं (वही, २५/३)। रावण ने मनुष्यों की सदैव उपेक्षा की है, उन्हें तृणवत् मानकर उनका विनाश कराया है और विकास रोका है। वह मनुष्यों से किंचिन्मात्र भी नहीं डरता है। केवल विभीषण को छोड़कर उसके पक्षधर अन्य राक्षसों की भी ऐसी ही धारणा है (युद्धकाण्ड १२/२२, १४/८, १५/४, ७, ३६/४-५)। माल्यवान्, जो रावण का मातामह था, ने भी अपने देश और अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने की दृष्टि से ही रावण को समझाया था कि वह राम से सन्धि करले (वही, ३५ सर्ग)। श्री रामचन्द्र ने अंगद को रावण के पास दूत बनाकर यही कहने को भेजा है कि आर्षसंस्कृति जो आर्यसंस्कृति का ही दूसरा नाम है और जिसे देव, गन्धर्व, यक्ष आदि सभी मानते हैं, का विरोध करने वाले सभी राक्षसों को समाप्त कर दिया जायगा (वही, ४१/५८-६७)। निशायुद्ध में दोनों ही वर्गों के सैनिक (वानर और राक्षस) इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके द्वारा उन्हीं के देश-जातीय व्यक्ति का वध न होने पाय। इसके लिए प्रहार करने के पहले वानर यह पूछ लेते हैं कि क्या तुम राक्षस हो? और राक्षस पूछ लेते हैं कि क्या तुम वानर हो (वही, ४४/३)? युद्धकाल में मेघनाद भी विभीषण को अपनी राक्षसजाति, राक्षसप्रजाति, राक्षसधर्म और अपने राक्षसवर्गीय स्वातन्त्र्य की गरिमा बताकर उन्हें अपने पक्ष में पुनः लौट आने की प्रेरणा देता है। किन्तु विभीषण अपने को राक्षसप्रजाति में उत्पन्न होने के बावजूद राक्षससंस्कृति से अस्पृष्ट बताकर अपने को आर्यसंस्कृति और आर्यधर्म का ही उपासक बताता है (वही, ८७/१०-३०)। लक्ष्मण और मेघनाद के संरम्भपूर्ण युद्ध को भी वाल्मीकि ने नरमुख्य और राक्षसमुख्य का युद्ध बताया है (वही, ८८/३६)। इस युद्ध में राक्षसों का निरन्तर महान् विनाश देखकर लंका की राक्षसनारियों को मानवजातीय श्रीराम और लक्ष्मण की ओर से महान् संकट का अनुभव होने लगा है (वही, ९४/२२-३०)। एक मानव के द्वारा राक्षसराज की मृत्यु को देखकर रावण-पत्नियों को भी आश्चर्यमिश्रित शोक की अनुभूति होती है। मन्दोदरी तो इस मानवकृत पराभव को राक्षसराज के लिए त्रपाजनक भी मानती है (वही, ११०/१४-१६, १११/५-६)।

महाकवि ने राम-रावण युद्ध को दो देशों के युद्ध के रूप में भी यत्र-तत्र संकेतित किया है। हम देखते हैं कि समुद्र लाँघते समय हनुमान् अपनी

उड़ान में विघ्न डालने वाली सुरसा को अपने अनुकूल करने के लिए सबसे पहले उसे इसी तर्क द्वारा समझाते हैं कि 'सुरसे मैं श्रीराम का दूत हूँ। उन्हीं की आज्ञा से सीता के पास जा रहा हूँ। तुम भी श्रीराम के ही देश की रहने वाली हो। अतः तुम्हें अपने देश के राजा श्रीराम की सहायता करनी चाहिए, अर्थात् मेरी यात्रा में विघ्न नहीं डालना चाहिए (सुन्दरकाण्ड १/१५४)।' यहाँ इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि आहत बाली के आक्षेपों का उत्तर देते समय स्वयं श्रीराम ने कहा है कि इधर की समग्र भूमि पर भरत का साम्राज्य है और हम लोग अपने धर्म किं वा संस्कृति के विस्तार हेतु भ्रमण कर रहे हैं। अतः अधर्म और अधार्मिक अब यहाँ नहीं रह सकेंगे (किष्किन्धाकाण्ड १८/६-११)। प्रतीत होता है कि यहाँ श्रीराम का तात्पर्य है कि दक्षिण भारत की यह समुद्रपर्यन्त समस्त भूमि आयोध्यानरेश के साम्राज्य के अन्तर्गत है। हनुमान् इस तथ्य से परिचित हैं और सुरसा से बात करते समय उन्हें यह तथ्य याद आ गया है। संभव है उन दिनों भी भारतीय समुद्री तट पर कुछ निश्चित दूरी तक समुद्र में भी भारत की सीमा रही हो और उसके ही अन्तर्गत हनुमान् को सुरसा मिली हो।

इस सन्दर्भ में कवि ने दो और संकेत दिए हैं। पहला उस समय दिया है जब युद्धभूमि में रावण की मृत्यु हो जाने पर श्रीराम की आज्ञा से हनुमान् सीताजी के पास विजय का सन्देश लेकर जाते हैं और श्रीराम की ओर से उनसे कहते हैं कि अब लंका पर अधिकार हो गया है (युद्धकाण्ड ११३/१०)। यहाँ पर लंका शब्द निश्चय ही समग्र लंकादेश किं वा लंकाराज्य का वाचक है। दूसरा संकेत तब दिया जब आयोध्या को वापस आते समय श्रीराम सुग्रीव से तो किष्किन्धा चले जाने को कहते हैं किन्तु विभीषण से कहते हैं कि मैंने जो तुम्हें लंका का राज्य दिया है अपने उसी राज्य में रहो (वही, १२२/१५-१६)। यहाँ ध्यातव्य यह है कि सुग्रीव को अपने राज्य में जाने की बात नहीं कही गई है; जबकि राजा तो वह भी हैं। इससे सिद्ध होता है कि सुग्रीव का राज्य भरत के साम्राज्य के ही अन्तर्गत है। अतः सुग्रीव अधीनस्थ राजा है। किन्तु लंका एक दूसरा देश है और वहाँ का राज्य स्वतन्त्र है। यद्यपि अब उसे भी श्रीराम ने हस्तगत कर लिया है, किन्तु उसे वह हस्तगत करने से पूर्व ही विभीषण को पूर्णरूपेण दे चुके हैं। अतः चलते समय श्रीराम ने विभीषण को तो स्वराज्य में रहने की बात कही, किन्तु सुग्रीव से वह ऐसा नहीं कह सके। क्योंकि सुग्रीव का राज्य तो उन्हीं के भाई

भरत के साम्राज्य का ही अंग है। अतः वह तो प्रकारान्तर से उन्हीं का हुआ। इससे यह तथ्य और भी अधिक उजागर हो उठता है कि राम-रावण का युद्ध दो देशों का युद्ध था। जिसमें वानरसेना अपने देश और अपने राजा सुग्रीव तथा उनके सम्राट् श्रीराम के लिए आत्मीयभावना पूर्वक लड़ी थी।

श्रीराम को अपने अनुज शत्रुघ्न द्वारा रावण के मौसेरे भाई लवणासुर का भी इसीलिए संहार कराना पड़ा कि वह आर्ष संस्कृति का विरोधी था और उनके साम्राज्य में राक्षस संस्कृति का आतंक फैलाए हुए था (उत्तर-काण्ड ६१-७० सर्ग)।

महाभारत में राष्ट्रियभावना

महर्षि वेदव्यास विरचित महाभारत में भारतवर्ष के प्राचीन वैभव एवं गौरव का लोमहर्षक इतिहास मिलता है। एक लाख श्लोकों में सुनिबद्ध किया गया यह एक अतिविशालकाय वीरकाव्य है। अपने आप में अनेक अवान्तरकथाओं और उपकथाओं को समेटे हुए कौरव-पाण्डवों की युद्धकथा ही इस काव्य की प्रमुख कथा है, जो सर्वविदित है। इस काव्य में मानव-जीवन के चारों पुरुषार्थों से सम्बन्धित सब कुछ उपलब्ध होता है। हाँ, मात्रा भले ही किसी की न्यून और किसी की अधिक हो। यदि कहा जाय कि यह काव्य मानवीय भावमणियों का कोषागार है, तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

अब जहाँ तक इस काव्य में राष्ट्रियता का प्रश्न है, मुझे इस सन्दर्भ में भी इस काव्य का स्वाध्याय करते समय निराशा की अनुभूति नहीं हुई है। क्योंकि इस काव्य के प्रमुख पात्रों में अपने भारत देश और अपनी भारतीय प्रजा की रक्षा करने के भाव अनुभूतिगोचर होते हैं। राष्ट्र की रक्षाहेतु ही राजसत्ता की उपादेयता पर भी पर्याप्त प्रकाश मिलता है। अपने राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए सतत जागरूक राजा की प्रशंसा की गई है; तथा राष्ट्र को आदर्श और अनुकरणीय राष्ट्र बनाने के प्रयत्नों की सराहना हुई है[४]। राष्ट्र को किसी प्रकार की पीड़ा न होने पाय, इसके लिए राजाओं को जागरूक रहने की प्रेरणा दी गई है। राष्ट्र की रक्षा, सुरक्षा, आन्तरिक रक्षा आदि के प्रति अध्यवसाय करते रहने का उपदेश दिया गया है। प्रजावर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति में सुधार और निखार

---

४. महाभारत, आदिपर्व, १०३/११, १०४/४४-४५; १०८/१-२६; शान्तिपर्व ६७/१-१७।

लाने की बात भी बड़े ही मनोयोग के साथ कही गई है।[५] अपने राष्ट्र और शत्रु के राष्ट्र में अपने प्रभाव की जानकारी रखने के लिए राजा को सावधान किया गया है। अपनी शक्ति के बलाबल को देखकर ही शत्रु से युद्ध या सन्धि करने की सलाह दी गई है।[६] शरशय्यासीन भीष्मपितामह ने राजा युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए राजा और राष्ट्र के सम्बन्ध में परम महत्त्वपूर्ण और परमोपयोगी तथ्यों पर प्रकाश डाला है। राजा और राष्ट्र (प्रजावर्ग) का किस प्रकार अभ्युदय होता है और किस प्रकार पराभव होता है, इन दोनों ही पहलुओं पर भली भाँति प्रकाश डालते हुए श्री भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर को सदैव अभ्युदयकारी नीति का अनुसरण करते रहने की सलाह दी है। युद्धकाल में सैन्यसंचार-व्यवस्था तथा शत्रुविजय के प्रकारों पर प्रकाश डाला है। राजा को राष्ट्र की और राष्ट्र को राजा की रक्षा करने का सन्देश सुनाया है।[७]

महर्षि वेदव्यास ने भारत देश और भारतीयता पर आस्था और गौरव-भावना पनपाने की दृष्टि से समूचे भारतवर्ष का परिचयात्मक वर्णन भी किया है। इसी प्रसंग में भारतवर्ष की नदियों और जनपदों का भी वर्णन किया गया है जो भारतवर्ष की गरिमा का सूचक है और पाठकों के चित्त-पटल पर भारतीयता के प्रति स्वाभिमान के भाव अंकित कर देता है।[८]

इस काव्य में श्री भीष्मपितामह के मुख से चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के धर्मों (कर्त्तव्यों एवम् अधिकारों) का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चारों आश्रमों के धर्मों पर भी पर्याप्त रोचक एवं प्रेरक प्रकाश डाला गया है, जो पवित्र भारतीयता तथा गौरवशालिनी भारतीय राष्ट्रियता का ही परिचायक कहा जाएगा।[९] महर्षि वेदव्यास ने नारद-युधिष्ठिर-संवाद, पुलस्त्य-भीष्म-संवाद तथा धौम्य-युधिष्ठिर-संवाद के माध्यम से अपने देश के परम पावन तीर्थों की महिमा, तीर्थयात्रा की प्रक्रिया तथा फल का विस्तारपूर्वक वर्णन करके भी

---

५. सभापर्व, ५/१७-१२९।

६. विराटपर्व, २९/३-१४।

७. शान्तिपर्व, अध्याय ६७-७१, ८७-९०, ९४, १००-१०३, १२०, १३०-१३३।

८. भीष्मपर्व, अध्याय ३-१२।

९. शान्तिपर्व, अध्याय ६०-६६, १८८-१८९, १९१-१९२; आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ४५-४६।

भारतीय आत्मा के स्वरूप को उजागर किया है। उन्होंने अपने देशवासियों को अपने देश के विभिन्न भूभागों एवं दिग्भागों में अवस्थित तीर्थों के प्रति आस्था रखने और अदम्य उत्साह के साथ उनका दर्शन करने की रोचक प्रेरणा देकर निश्चय ही अपने देशवासियों के हृदय में समग्र देश के प्रति आत्मीयता और अखण्डनीयता के भाव भरे हैं, जो वर्तमानकालीन राष्ट्रिय-भावना के ही प्रतिरूप हैं।[१०]

गोमहिमा का भी सोदाहरण निरूपण किया है। गाय की श्रेष्ठता और महत्ता पर इस विधि से प्रकाश डाला गया है कि पाठक का मन अवश्य ही गायों के प्रति आस्थालु हो उठता है। इस सन्दर्भ में महर्षि च्यवन और राजा नहुष का उपाख्यान अतीव रोचक प्रतीत हुआ है (अनुशासनपर्व, अध्याय ५०.५१)। केवल गोदान की ही महिमा सर्वोत्कृष्ट नहीं बताई गई है, बल्कि गोसेवा को भी स्पृहणीयसुखसमृद्धिदायक बताया गया है। गौओं के उद्भव और उनके श्रेष्ठत्व पर भी युक्तिपूर्वक प्रकाशपात किया गया है। फलस्वरूप गोभक्ति, गोसेवा, गोदान और गोरक्षा को भारतीयता का प्रबल प्रतीक माना जाने लगा है।[११] महर्षि व्यास ने अपने राष्ट्र के गोधन की रक्षाहेतु प्राणों की भी 'बाजी' लगा देने की प्रशंसा की है और अपने बड़े से बड़े लाभोन्मुख संकल्प किं वा गूढतम योजना की भी उपेक्षा कर देने को अच्छा ही बताया है। इस सन्दर्भ में विराट, युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव आदि द्वारा त्रिगर्तराज सुशर्मा की विशाल सेना को परास्त करके अपने अपहृत गोधन की रक्षा करने की कथा, तथा अकेले बृहन्नला (अर्जुन) द्वारा भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा आदि द्वारा सुरक्षित भीषण कौरव-सेना को पराजित करके विराट के गोधन की रक्षा करने की रोमांचक कथा उल्लेखनीय है।[१२]

भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेरणा एवं मन्त्रणा से राजा युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ करके सम्राट् की स्पृहणीय पदवी प्राप्त करने की कथा को भी वेदव्यास ने बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस स्थल पर युधिष्ठिर के मन में एक ओर जहाँ राजसूय यज्ञ करके इन्द्रलोक के सुखोपभोग की लालसा

---

१०. वनपर्व, अध्याय ८१-९०।

११. अनुशासनपर्व, अध्याय ६६, ७१-८३; आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ९२।

१२. विराटपर्व, अध्याय ३०-६७।

जागरित हो उठती है वहाँ दूसरी ओर उनके हृदय में सम्राट् के महनीय पद को प्राप्त करने की अभिलाषा भी घर कर लेती है। उनकी यह अभिलाषा प्रकारान्तर से उनकी राष्ट्रियभावना की ही प्रतिच्छवि कही जा सकती है। उनकी इस इच्छा की पूर्त्ति हेतु भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, सहदेव और नकुल ने अपने-अपने रूप के अनुरूप पूरा-पूरा सहयोग दिया और सम्पूर्ण दिग्विजय करके राजसूय यज्ञ किया तथा अपने राष्ट्र का गौरव बढ़ाया। युधिष्ठिर के इस राजसूय यज्ञ में चीन, लंका और यवन राष्ट्रों के अनेक राजा लोग युद्ध में पाण्डवों से परास्त होकर पाण्डवनरेश युधिष्ठिर के साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करते हुए सम्मिलित हुए थे। फलस्वरूप युधिष्ठिर की राष्ट्रिय भावना जो उनकी बलवती साम्राज्यभावना भी बन चुकी थी, की पूर्णतया तुष्टि हुई थी।[13]

इसी प्रकार युद्ध में कौरवों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् व्यास की आज्ञा एवं श्रीकृष्ण की संस्तुति से महाराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ भी करते हैं, जिसमें अश्व की रक्षा हेतु सेनासहित अर्जुन प्रस्थान करते हैं और पुनः एक बार सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजाओं और महाराजाओं को जीतकर पाण्डवों का साम्राज्य स्थापित और पुष्ट करते हैं।[14] महर्षि वेदव्यास का यह कथन यहाँ अति महत्त्वपूर्ण है कि सम्राट् युधिष्ठिर अपने सम्पूर्ण भारतवर्ष पर शासन करते थे। क्योंकि इस कथन के मौलिक उद्धरण में प्रयुक्त हुए भारतवर्ष के विशेषणभूत 'स्वं' (अपने) पद से यह स्पष्टतया व्यंजित हो जाता है कि 'भारतवर्ष' के प्रति 'आत्मीयता' का भाव उन दिनों भी था।[15]

वेदव्यास ने भारतीय गणतन्त्र किं वा संघतन्त्र के भी दायित्वों पर पर्याप्त प्रकाशपात किया है। उनका उपदेश है कि गणतन्त्र राज्य को पारस्परिक एकता, निर्लोभता तथा सहनशीलता का व्यवहार करना चाहिए। अपनी सैन्यशक्ति को सदैव स्वस्थ, सन्तुष्ट और प्रसन्न रखना चाहिए। अपनी प्रगति की मीमांसा भी करते रहना चाहिए। अपनी जनता में न्याय, दण्ड

---

१३. सभापर्व, अध्याय १२-४७।

१४. आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ७१-८९।

१५. एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वभं सुरेन्द्रवत्।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना॥ (वही, १४-४७)

और रक्षा की प्रत्याभूति (गारण्टी) रखनी चाहिए। समष्टि के अभ्युदय के प्रति जागरूक और क्रियाशील होना चाहिए। व्यष्टिवाद को नहीं पनपने देना चाहिए। प्रजाहेतु उत्तम शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। मन्त्रणा-पटु मन्त्रियों और रहस्यवेदी गुप्तचरों की विश्वसनीय व्यवस्था रखनी चाहिए। पारस्परिक वैर और कलह को किंचिन्मात्र भी बढ़ावा नहीं मिलने देना चाहिए। यदि कहीं अनुभूत भी हों तो शीघ्र ही इनको दूर करना चाहिए। क्योंकि पारस्परिक वैर और कलह से गणराज्य किं वा संघराज्य की सत्ता संकटग्रस्त हो जाती है। अत: गणराज्य के नागरिकों एवं कर्णधारों का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि राज्य में ऐसा कोई भी दुर्भाव न पनपने दें जो उनकी राजनैतिक और राष्ट्रिय भावनात्मक सत्ता का घातक हो।[१६] स्पष्ट है कि वेदव्यास के ये विचार निश्चय ही उनकी मनोगत राष्ट्रिय भावना के अभिव्यंजक है।

श्रीमद्भागवत में राष्ट्रियभावना

महर्षि श्रीवेदव्यास प्रणीत यह पावन ग्रन्थरत्न भी संस्कृत-साहित्य का एक अतीव आकर्षक उपजीव्य ग्रन्थ है। इसमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की तीन विचारधाराओं की जो पावन त्रिवेणी प्रवाहित हुई है उसमें अवगाहन करने वाले प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा प्रमुदित हो उठती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। साथ ही साथ कथातन्तुओं के माध्यम से सूर्यवंश, चन्द्रवंश और यदुवंश के राजा महाराजाओं के चरितों को श्रवणगोचर करके हमें अपने पुरातन भारतवर्ष के पुरातन किन्तु गौरवपूर्ण इतिहास का परिज्ञान भी हो जाता है जिससे हम अपने अतीत पर गर्व करने लगते हैं।

भागवतकार श्रीवेदव्यास ने अपने इस परम पावन ग्रन्थरत्न में कुछ स्थलों पर भारत, भारतीयता और भारतभक्तिभावना का भी अतीव हृदयस्पर्शी एवं प्रभावशाली वर्णन किया है, जिसे पढ़कर मनोमस्तिष्क में राष्ट्रियभावना का उदय अनायास ही हो उठता है। भगवान् श्री ऋषभदेव के चरितवर्णन के प्रसंग में उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस देश का भारतवर्ष नाम पड़ने का बड़े ही गौरव के साथ उल्लेख किया है (श्रीमद्-भागवत, ५/४/९, ५/७/३); तथा उसी प्रसंग में आगे चलकर भारतवर्ष को बड़ी ही भावुकता के साथ पुण्यभूमि कहा है (वही, ५/६/१३)। भूमण्डल

---

१६. शान्तिपर्व, अध्याय १०७।

के विस्तार का वर्णन करने के प्रसंग में जम्बूद्वीप का वर्णन करते हुए वेदव्यास ने अपने भारतवर्ष का जो वर्णन किया उसे पढ़कर तो आत्मा में देशभक्ति कि वा राष्ट्रभक्ति के भाव तुरन्त ही पल्लवित हो उठते हैं। यहाँ के अनेक पर्वतों और नदियों का रागात्मक वर्णन करते हुए उनका कहना है कि भारतवर्ष सर्वश्रेष्ठ है; देवता भी इस देश की महिमा का गान करते हैं; उनकी दृष्टि में भारतवर्ष में जन्म लेने वाले मनुष्य या तो अवश्य ही विशेष पुण्यशाली हैं, अथवा जन्म देने वाले भगवान् ने स्वयं ही इनका पक्ष लेकर इन्हें इस उत्तम देश में जन्म दिया है। इस भारतदेश में जन्म पाने के लिए देवता तरसते हैं; इसकी तुलना में उन्हें मिला हुआ स्वर्ग भी तुच्छ ही दिखाई देता है; यहाँ कर्मठता एवं क्रियाशीलता को देख-देख वे लोग यहाँ के लिए स्पर्धालु हो जाते हैं; उन्हें स्वर्ग में दोष दिखाई देने लगते हैं; स्वर्ग में कल्पायु होकर जीने की इच्छा छोड़कर वे भारत में अल्पायु होकर भी जीना अच्छा समझते हैं; यहाँ की धर्मप्रधान एवं भक्तिभावसंवलित जीवनचर्या को प्राप्त करने के लिए वे ब्रह्मलोक के भी सुख को त्यागने में औचित्य देखते हैं; फलस्वरूप वे अपने बचे हुए पुण्य के सहारे भारतवर्ष में जन्म पाने की लालसा करते हैं।[17]

वेदव्यास ने आश्रमव्यवस्था, वर्णव्यवस्था आदि भारतवर्षीय सांस्कृतिक तत्त्वों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। इनके माध्यम से भारतवर्ष के जन-

---

१७. अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना।
न यत्र नारायणपादपंकजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात्॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥
न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥

० ० ०

यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम्।
तेनाजनाभेः स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति॥

(श्रीमद्भागवत, ५/१९/२१-२८)

जीवन का दर्शन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करके उन्होंने भारतीय जीवनदर्शन की स्पृहणीयता रमणीयता एवं वरणीयता को ध्वनित करके भारतीयों के मन में अपनी भारतीय जीवन-पद्धति के प्रति गौरवपूर्ण भावना उद्दीप्त की है जो प्रकारान्तर से राष्ट्रिय भावना का ही प्रतिरूप कही जा सकती है।[१८] उन्होंने राष्ट्र के प्रजाजनों की रक्षा तथा सुरक्षा के लिए लोकरंजक शासक की आवश्यकता पर भी पर्याप्त बल दिया है। ध्रुववंशीय राजा अंग के पुत्र वेन के प्रजापीड़क क्रूर कर्मों की निन्दा करके उन्होंने अपना यह मन्तव्य भी प्रकट कर दिया है कि शासक को प्रजारक्षक ही होना चाहिए; न कि प्रजाभक्षक। अपने नृशंस कुकृत्यों के परिणामस्वरूप ऋषियों-मुनियों के क्रोध का पात्र बन जाने के कारण वेन की मृत्यु पर प्रजा से व्याप्त अराजकता के कारण, चोरी, डकैती, लूट-मार, हत्या आदि दुष्परिणामों पर प्रकाशपात करते हुए वेदव्यास ने राष्ट्र की कुशलताहेतु एक प्रजाप्रेमी देशभक्त शासक की अनिवार्यता प्रकट करके अपने राष्ट्रिय भाव को ही उजागर किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[१९]

१८. वही, (क) ७/११ अध्याय से १५ तक। (ख) ११/१७ अध्याय से १८ तक।
१९. वही. ४/१४/१-४०।

(५)

प्राचीन लौकिक संस्कृत-साहित्य में राष्ट्रिय भावना

संस्कृत-साहित्य अपनी गरिमा के लिए केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु समस्त संसार में विख्यात है। भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, भटिट्, श्रीहर्ष, सुबन्धु, दण्डी, बाण, धनपाल आदि संस्कृत-साहित्यकारों की साहित्यिक सम्पदा को प्रत्येक देश के संवेदनशील मनीषी ने मान्यता प्रदान की है। हमारे भारतवर्ष में तो इनकी काव्यकला की कमनीतया को आज भी सभी निष्पक्ष विद्वान् एक स्वर से महनीय एवं स्पृहणीय मानते ही हैं। किन्तु अपने इसी देश में वहुत से ऐसे भी लोग देखे और सुने जाते हैं जो इस संस्कृत-साहित्य को केवल रोमानी साहित्य बताते हैं और इसे आज के संघर्षशील समाज के लिए अनुपयोगी कहकर इसके प्रचार-प्रसार की अनावश्यकता सिद्ध करने का दुस्साहस भी करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि भास, कालिदास आदि संस्कृत के पुरातन साहित्यकारों की कृतियों में असीमित साहित्यिक सौन्दर्य के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति, सभ्यता, जीवनदर्शन, राष्ट्रिय-भावना आदि भारतीय समाजोपयोगी सभी तत्त्वों पर तथ्यपूर्ण प्रकाश डाला गया है। फलस्वरूप यह साहित्य भारतराष्ट्र और भारतीय समाज के लिए सदैव मूल्यवान् रहा है और रहेगा।

प्राचीन संस्कृत-साहित्य का स्वाध्याय करते समय हमारे मनोमस्तिष्क में यह तथ्य भी बड़ी तीव्रता से उदित हुआ है कि हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों में भी अनेक ऐसे साहित्यकार हुए हैं जिनकी रचनाओं में राष्ट्रिय भावना का सुरीला स्वर सुनाई देता है। इस सन्दर्भ में जिन साहित्यकारों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, वे हैं—भास, कालिदास, विशाखदत्त, भट्टि,

भवभूति, मुरारि, अनन्तभट्ट, क्षेमेन्द्र, श्रीहर्ष, विद्यापति, नयनचन्द्रसूरि, माधव, चन्द्रशेखर, वेङ्कटाध्वरि, देवराज शर्मा और देवराज शास्त्री। प्रस्तुत अध्याय में अब हम इन्हीं साहित्यकारों की कृतियों में उपलब्ध होने वाली राष्ट्रिय भावना का अपने शोधप्रवन्ध के अनुरूप क्रमशः विवेचन करने जा रहे हैं, जो इस प्रकार है :—

भास के रूपक

संस्कृत-साहित्याकाश में रूपककार भास भी एक देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में विख्यात हैं। यद्यपि इनके रूपकों में लोकानुरंजन की प्रधानता है तथापि इनके अनेक रूपकों में भारतीय संस्कृति, शील तथा शक्ति के भी स्वाभिमानपरक वर्णन मिलते हैं। रामायण और महाभारत की कथाओं के अंशों से उपनिवद्ध किए गए इन रूपकों को पढ़कर प्राचीन भारतीय गरिमा और महिमा के प्रति आकर्षण, आत्मीयता और स्वाभिमान के भावों की अनुभूति होने लगती है। क्योंकि राम, लक्ष्मण, हनुमान्, कृष्ण, वलराम, भीष्म द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु आदि भारतीय वीरों तथा कौशल्या, सुमित्रा, सीता आदि भारतीय आदर्श महिलाओं के स्वाभिमानपूर्ण रोमांचक चरितों का इन रूपकों में अतीव सजीव चित्रण किया गया है। राज्यप्राप्ति के लिए अपनी शक्ति द्वारा शत्रुदमन की चुनौती दी गई है; दीनता को त्यागने की याद दिलाई गई (दूतवाक्यम् १/२४); युद्धभूमि में मारे जाने पर स्वर्गप्राप्ति तथा विजयी होने पर यशोलाभ की तथ्यात्मक वात कहकर भारतीय वीरों की सार्थक निर्भीकता प्रकट की गई है (कर्णभारम्, १/१२); भारतीय क्षत्रियों की समृद्धि को सायकाधीन वताया गया है (पंचरात्रम्, १/२४); गोरक्षाहेतु किए जाने वाले युद्ध को हर हालत में उचित वताया गया है (वही, २/५); तथा स्वाभिमान को ही भारतीय राजाओं का शरीर कहा गया है (उरुभङ्गम्, १/६३ के पूर्व)। इतना ही नहीं, वल्कि, अधिसंख्यक रूपकों के भरतवाक्यों में तो भासनिष्ठ राष्ट्रिय-भावना खुलकर सामने आ गई है। इनमें हिमालय से लेकर सागरपर्यन्त अपनी भारतीय वसुन्धरा के एकातपत्र शासन की कामनाएँ की गई हैं; सभी प्रजाओं में सम्पत्तियों के निवास और विपत्तियों के विनाश की इच्छाएँ की गई हैं; और अपने देश के शत्रुओं का शमन चाहा गया है।[1]

---

१. (क) इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।

कालिदास

संस्कृत साहित्यकारों में कालिदास का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत तथा ऋतुसंहार नामक चार श्रव्यकाव्यों की और अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र नाम तीन दृश्यकाव्यों की सर्जना की है। हमारा विश्वास है कि प्रत्येक प्रबुद्ध संस्कृत-मनीषी कालिदास के इन सभी काव्यग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों से सुपरिचित है। अतः यहाँ उनका उल्लेख करना निरर्थक ही होगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कालिदास के काव्यसिन्धु में अनेक प्रकार के भावात्मक तथा कलात्मक रत्नों का समवाय मिलता है। किन्तु इस स्थल पर हम अपने सुधी समीक्षकों का ध्यान कालिदासनिष्ठ स्वदेशानुराग, स्वदेश-भक्ति किं वा स्वराष्ट्रभावना की ही ओर आकृष्ट करेंगे। हमें कालिदास के काव्यों में भारत और भारतीयता के दर्शन हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास को भारतभूमि के कण-कण से प्यार है; उसके चप्पे-चप्पे से उनका परिचय है; और उसकी प्राणिमात्रोपयोगिनी विविध सम्पदाओं के प्रति

महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥
(दूतवाक्यम् (१/५६), बालचरितम् (५/२०) तथा स्वप्नवासवदत्तम् (६/१९) के भरतवाक्य)

(ख) सर्वत्र सम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा।
राजा राजगुणोपेतो भूमिमेकः प्रशास्तु नः ॥
(कर्णभारम् (१/२५) का भरतवाक्य)

(ग) हन्त सर्वे प्रसन्नाः स्मः प्रवृद्धकुलसंग्रहाः
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

(घ) भवन्त्वरजसो गावः परचक्रं प्रशाम्यतु ।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥
(अभिषेकनाटकम् (६/३५) तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् (४/२५) के भरतवाक्य)

(ङ) १. गोब्राह्मणानां हितमस्तु नित्यं सर्वप्रजानां सुखमस्तु लोके।
o o o
इमामुदीर्णार्णवनीलवस्त्रां नरेश्वरो नः पृथिवीं प्रशास्तु ॥
२. भवन्त्वरजसो गावः परचक्रं प्रशाम्यतु।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥
(अविमारकम् (६/२१-२२) का भरतवाक्य)

उनके मन में कृतज्ञतापूर्ण आत्मीयता के भव्यभाव भरे हुए हैं। राजा रघु के दिग्विजय के वर्णन के प्रसंग को पढ़कर यह धारणा बनती है कि उनकी दृष्टि में उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पश्चिम में कम्बोज से लेकर पूर्व में कलिङ्ग तक-एक सुमहान् भारतराष्ट्र की मूर्तिमती परिकल्पना है (रघुवंश, चतुर्थ सर्ग)। इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर भी सुनन्दा के द्वारा राजाओं का परिचय देने के माध्यम से उन्होंने मगध, अंग, अवन्ती, माहिष्मती, मथुरा, कलिंग, पाण्ड्य, तथा कोशल नाम से विख्यात भारतीय भूभागों का बड़े ही अभिनिवेश के साथ वर्णन किया है (वही, ६/२०-७९)। आगे चलकर लंका में रावणवध करके स्वदेश लौटते हुए पुष्पकविमानारूढ राम को वक्ता तथा सीता को श्रोता बनाकर भारतीय दक्षिणी समुद्र, पर्वत, पम्पासरोवर, पंचवटी, गोदावरी नदी, अगस्त्याश्रम, पंचाप्सर सरोवर, शरभंगतपोवन, मन्दाकिनी नदी, चित्रकूट, तीर्थराज प्रयाग, सरयू नदी आदि का क्रमशः वर्णन करके भी उन्होंने अपने भारतवर्ष के भूभागों के प्रति अपनी ममता तथा आस्था प्रकट की है (वही, त्रयोदश सर्ग)। इसी प्रकार यक्ष के मुख से मेघ को अलकापुरी का मार्ग बताने के व्याज से उन्होंने रामगिरि, मालवदेश, आम्रकूटगिरि, रेवा नदी, दशार्ण देश, विदिशानगरी, वेत्रवती नदी, नीचगिरि, निर्विध्या नदी, अवन्ती देश, उज्जयिनी नगरी, शिप्रा नदी, महाकालेश्वरमन्दिर, गंभीरा नदी, देवगिरि, स्कन्दमन्दिर, चर्मण्वती नदी, ब्रह्मावर्त्त देश, कुरुक्षेत्र, सरस्वती नदी, कनखलतीर्थ, गंगानदी, हिमगिरि, क्रौंचरन्ध्र, कैलासगिरि तथा अलकापुरी का जो भावपूर्ण वर्णन किया है उसमें भी उनका अपने देश के प्रति प्रगाढ परिचय एवं प्रेम ही प्रमुख हेतु है (पूर्वमेघ)। भारतमाता के किरीट बने हुए हिमालय के वर्णन प्रसंगों में तो उनकी कल्पना को पंख लग गए हैं। उन्होंने उसे देवात्मा का विशेषण देकर उसके प्रति अपने हृदय की श्रद्धा प्रकट की है। उसकी नयनरंजक प्राकृतिक शोभा एवं लोकरंजक प्राकृतिक सम्पदा का ऐसा मनोहारी वर्णन किया है, जिसे पढ़कर प्रत्येक भारतीय के मन में उसके प्रति आत्मीयता और गौरव के भाव उदित हो उठते हैं। उन्होंने उसे पृथ्वी का मानदण्ड बताया है; विविध रत्नों और औषधियों का आकर कहा है; जीवनदायिनी जलशक्ति का स्रोत कहा है; अर्थात् विविध वनसम्पदा का भाण्डार बताया है (कुमारसंभव, १/१-१६)। उन्होंने हिमालय का मानवीकरण भी बड़ा रोचक किया है। उसे गिरिराज के मानवीकृत रूप में चित्रित किया है और उसकी औषधप्रस्थ

नाम की एक अतीव भव्य राजधानी का भी बड़ी ही रुचि के साथ वर्णन किया है (वही, ६/३६-९३)।

रघुवंशी राजाओं की विशेषताओं का वर्णन करते समय कालिदास के मन में अपने राष्ट्र के प्रति भी कल्याणकामना रही है। उनकी दृष्टि में यह तथ्य भारतीयों के लिए अतीव गौरवाधायक है कि रघुवंशी नरेशों ने समुद्र पर्यन्त भारत राष्ट्र की बड़ी ही कुशलता के साथ देखभाल की है और अपनी प्रजा की भलाई के लिए वे सतत जागरूक रहे हैं। फलस्वरूप प्रजा भी उन्हें अपना पिता माना करती थी (रघुवंश, १/५-३०)। दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम आदि नरेशों द्वारा किए गए राष्ट्रयशोवर्धक कार्यकलापों को कालिदास ने अपने काव्य में अतीव महत्त्व दिया है। अपने राष्ट्र का अच्छी तरह भरण-पोषण करने के गुण को ही देखकर उन्होंने शाकुन्तलेय का नाम भरत उद्भावित किया है (अभिज्ञानशाकुन्तल, ७/३३)। उनकी यह हार्दिक अभिलाषा रही है कि यहाँ के राजा लोग प्रजा का योग-क्षेम करते रहें और यहाँ संस्कृत भाषा, जो इस राष्ट्र की अपनी भाषा है और समृद्ध भी है, की सदा उन्नति होती रहे (वही, ७/३५)। इसी प्रकार स्वामी कार्तिकेय द्वारा तारकासुर पर उसके वधपूर्वक विजय पाने की कथा का भी रोमहर्षक वर्णन करके उन्होंने विजातीय एवं विदेशीय म्लेच्छ शासकों पर सुनियोजित एवं सफल प्रत्याक्रमण करने की अदम्य प्रेरणा देनी चाही है (कुमारसंभव, १२-१७ सर्ग)।

कालिदास के मनोमस्तिष्क में भारतीय संस्कृति के प्रति भी अगाध आदर, विश्वास और स्वाभिमान की भावना भरी हुई थी। यही कारण है कि उनके काव्यों में भारतीय संस्कृति की समुज्ज्वल छटा छिटकती हुई लोचन-गोचर होती है। त्याग, तपस्या और तपोवन, जो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं, का इनके काव्यों में अतीव मनोरम वर्णन उपलब्ध होता है। वसिष्ठ, वाल्मीकि, कण्व और मारीच जैसे ऋषियों के आश्रमों का वर्णन पढ़कर भारतीय संस्कृति के प्रति मस्तक श्रद्धावनत होने लगता है। उनकी काव्यसम्पदा का स्वाध्याय करने वाला जब सन्तान की प्राप्ति के लिए चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप को अपनी सुदक्षिणा के साथ अपने कुलगुरु ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के आश्रम में जाता हुआ देखता है (रघुवंश, प्रथम सर्ग); दिलीप द्वारा नन्दिनी की परिचर्या का वर्णन पढ़ता है (वही, द्वितीय सर्ग); राजा रघु को कौत्स से से वरतन्तु के आश्रम की कुशलता का समाचार पूछते हुए देखता है (वही,

५/१-११); गुरुदक्षिणा की धनराशि समर्पित करने के लिए कौत्स की याच्ञा पर रघु को कुबेर पर आक्रमणार्थं सन्नद्ध पाता है (वही, ५/१२-३५); दशरथ को पुत्रप्राप्ति हेतु सफल पुत्रेष्टियाग करते हुए देखता है (वही, १०/१-८६); सुतीक्ष्ण की तीक्ष्ण तपस्या की रीति को पढ़ता है (वही, १३/४१-४४); सीता के मर्मस्पर्शी पातिव्रत की पावन कथा को पढ़ता है (वही, १४ तथा १५ सर्ग); तथा भगवान् शंकर को पति के रूप में पाने के लिए पार्वती को सौन्दर्य का सहारा त्यागकर जब तपोलीन देखता है (कुमारसंभव, ६/१-२९) तो उसके मनोमस्तिष्क में निश्चय ही भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण, आदर तथा निष्ठा के गम्भीर भाव पनप उठते हैं, जो प्रकारान्तर से राष्ट्रियभावना के ही प्रतिरूप होते हैं। हमारा विश्वास है कि कालिदास के किसी भी पाठक को यह तथ्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि कालिदास के काव्यों में भारतराष्ट्र के सभी गौरवपूर्ण प्रतीकों का आकर्षक एवं प्रेरक वर्णन हुआ है। फलस्वरूप उनकी काव्यसम्पदा में में भारतराष्ट्र की आत्मा ही प्रतिफलित हो उठी है। इसलिए हमें चाहिए कि हम उन्हें भारत का राष्ट्रकवि स्वीकार करें।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कालिदास में राष्ट्रियभावना के साथ ही साथ समग्र विश्व की मंगलकामना का भी निवास रहा है। उन्होंने जहाँ कहीं भी सार्वजनीन भाव प्रकट किए हैं वहाँ उनकी दृष्टि सार्वभौम हो गई है। उन्होंने समग्र विश्व में श्री और सरस्वती के समन्वय की कामना की है (विक्रमोर्वशीय, ५/२४); सभी के दुःखों का अन्त हो जाने की प्रार्थना की है; सभी का सुख चाहा है; सभी की कामनाओं की पूर्ति माँगी है; और सभी को उल्लिसत देखना चाहा है (वही, ५/२५) जिससे उनकी अन्ताराष्ट्रिय भावना की भी अभिव्यक्ति हो जाती है।

मुद्राराक्षसम्

विशाखदत्त प्रणीत इस नाटक में चाणक्य तथा राक्षस नामक कूटनीतिनिपुण अमात्यों की राजनिष्ठात्मक गतिविधियों का चित्रण है। इसमें चाणक्य को सफलता तथा राक्षस को विफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि यह नाटक राजनीति के कूट प्रयोगों से ओत-प्रोत है, तथापि चाणक्य की नन्दविनाशपूर्वक अभिषिक्त किए गए सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रति शुभकामनाएँ तथा राज्य की प्रजा के प्रति उसकी कल्याणमूलक समृद्धि की आशंसाएँ प्रकारान्तर से राष्ट्रियभावना के ही रूप में आभासित होने लगती हैं। वह अपने शत्रुभूत

अमात्य राक्षस को वश में करके अपने स्थान पर उसे सम्राट् चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाना चाहता है। क्योंकि वह जानता है कि राक्षस परम स्वामिभक्त है और बृहस्पति के समान बुद्धिमान् है। इसलिए यदि वह किसी भी प्रकार विवश होकर चन्द्रगुप्त का साचिव्य स्वीकार कर ले तो साम्राज्य की सुख-शान्ति और समृद्धि संभव और सुरक्षित हो सकेगी। अन्यथा वह नन्दवंश के प्रति भक्तिमान् होने के कारण सदैव चन्द्रगुप्त की प्रजा में विद्रोह के भाव भरता ही रहेगा (१/१३-१६)। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु चाणक्य ने अनेक कूटनीतिक प्रयोगों द्वारा राक्षस को वशीभूत कर भी लिया और उसे चन्द्रगुप्त का प्रधानामात्य बनाकर ही सुख की साँस ली (७/६-१९)। फलस्वरूप जो राक्षस सम्राट् चन्द्रगुप्त का शत्रु बनकर उसके साम्राज्य की जड़ें काटने की तैयारी कर रहा था, वह उसका और उसके साम्राज्य का परम शुभचिन्तक बन गया और भगवान् से यह प्रार्थना करने लगा कि सम्राट् चन्द्रगुप्त म्लेच्छों से आक्रान्त हुई भारतभूमि की चिरकाल तक रक्षा करते रहें (७/१९)।

यहाँ यह कहना भी प्रासंगिक ही प्रतीत होता है कि चाणक्य ने नन्द का विनाश भले ही अपने व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से किया-कराया हो, किन्तु राक्षस को वशीभूत करने में तो चाणक्यनिष्ठ साम्राज्यविषयक सुख-शान्ति एवं देशभक्ति की भावना को ही श्रेय दिया जाना चाहिए।

भट्टिकाव्य

महाकवि भट्टि द्वारा प्रणीत तथा रामकथा से सम्बन्धित बाईस सर्गों वाले इस महाकाव्य में भी यत्र-तत्र राष्ट्रिय भावना की अभिव्यक्ति हुई है। इस महाकाव्य में भी आर्य (भारतीय) संस्कृति के प्रतीक एवं संरक्षक श्रीराम का अनार्य (अभारतीय) संस्कृति के प्रतीक एवं संरक्षक लंकानरेश रावण के साथ व्यक्तिगत होने के बावजूद राष्ट्रिय स्तर पर युद्ध वर्णित किया गया है। हम देखते हैं कि ताटका, सुबाहु, मारीच आदि अनेक अनार्य, जो राक्षस संस्कृति के पोषक एवं भारतीय संस्कृति के विरोधी थे, उत्तर भारत में अयोध्या और मिथिला के बीच अपना अड्डा जमाए हुए थे। महर्षि विश्वामित्र की योजनानुसार श्रीराम-लक्ष्मण ने इनका विनाश करके आर्यसंस्कृति के संरक्षण का राष्ट्रिय स्तर पर श्रीगणेश किया है।(भट्टिकाव्य, २/२०-३७)। आगे शूर्पणखा के प्रसंग में पुनः कुछ इसी प्रकार के राष्ट्रिय भाव अभिव्यक्त हुए हैं। लक्ष्मण द्वारा नासिका के काटे जाने पर शूर्पणखा खर, दूषण और त्रिशिरा, जो रावण के प्रतिनिधि के रूप में दक्षिणभारत में दण्डकवन में अपना आधिपत्य जमाए

हुए थे और भारतीय संस्कृति के उपासकों को पीड़ित करते रहते थे, के पास जाकर अपनी दुर्दशा की कथा अपने ढंग से कहती है और उन्हें प्रतिशोध हेतु प्रेरित करती है। ये सब प्रतिशोध हेतु अपने चौदह हजार राक्षसों की सेना लेकर राम-लक्ष्मण से युद्ध करने आते भी हैं; किन्तु राम-लक्ष्मण के बाणों की मार से यमनिकेतन के अतिथि भी हो जाते हैं। यह देखकर शूर्पणखा समुद्र-पार लंका में राक्षसराज रावण, जो उसका भाई था, के पास जाती है और उसे लंका के राज्य तथा राक्षसजाति के खतरे के रूप में आए हुए मानव-जातीय राम-लक्ष्मण की सूचना देती है और उसे कूटनीति के प्रति जागरूक करके राम-लक्ष्मण के विनाश के लिए उत्तेजित करती है; साथ ही साथ सीताहरण के लिए भी उसे उत्कण्ठित कर देती है। इस सम्पूर्ण प्रसग में उसका अपना राष्ट्रियभाव उभरता हुआ प्रतीत होता है (वही, ४/१५-५/२२)। युद्ध के दिनों में कुम्भकर्ण आदि अपने स्वजनों के वध से सन्तप्त रावण का अन्तर्द्वन्द्व भी तन्निष्ठ स्वराष्ट्राभिमान से ही युक्त है (वही, १६/१-३४)। इसी प्रकार मेघनाद ने भी अपने पितृव्य विभीषण को अपने देश, अपनी जाति और अपनी संस्कृति की दुहाई देकर राम से विमुख करना चाहा है; किन्तु विभीषण के हृदय के सुदृढ़ विवेक के कारण उसे सफलता नहीं मिलती है (वही, १७/३२-४०)।

महाकाव्य के अन्त में बाईसवें सर्ग में महाकवि ने अयोध्यापर्यन्त दक्षिण भारत के भूभागों का अभिनिवेशपूर्वक वर्णन किया है। लंका से पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या के लिए प्रस्थान करने के पूर्व भगवान् श्रीराम ने भरत के पास अपने सकुशल वापस लौटने के समाचार को शीघ्र ही जाकर सुनाने के लिए हनुमान् को भेजते समय मार्गदर्शन के व्याज से लंका से अयोध्यापर्यन्त भारतीय भूभागों का जो सोल्लास दर्शन एवं परिचय कराया है, वह निश्चय ही कविनिष्ठ देशप्रेम का ही प्रतीक है (वही, २२/१-२८)।

भवभूति

भवभूति की काव्यमयी भव्य भावनाओं एवं कलात्मक कल्पनाओं से संस्कृत-जगत् का समीक्षक भली भाँति परिचित है। अतः सुधियों के मन को यहाँ हम उनकी ओर न ले जाकर भवभूतिनिष्ठ केवल राष्ट्रभाव से ही उसका परिचय कराना चाहेंगे।

आदिकवि वाल्मीकि की ही भाँति भवभूति को भी अपने आर्यदेश (भारतवर्ष) तथा आर्यसंस्कृति एवं सभ्यता के प्रति अधिक आस्था है। यहाँ

के वैदिक धर्म का पालन करने वालों का वह गर्व के साथ उल्लेख करते हैं[२]; और इस आर्यधर्म के विध्वंसकों के विध्वंस को बड़ी ही रोचक रीति से प्रस्तुत करते हैं। इस सन्दर्भ में महावीरचरित में वर्णित अन्य देश (लंका) के निवासी जो इस देश में अपनी अनार्य संस्कृति और सभ्यता के प्रचार-प्रसार में लगे हुए थे, ऐसे ताटका, सुबाहु, मारीच, विराध, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसों के वध-दृश्य पठनीय हैं। भवभूति की दृष्टि में राम और रावण का युद्ध दो संस्कृतियों का युद्ध है; दो प्रजातियों का युद्ध है; और दो राष्ट्रों का युद्ध है। रावण के मन्त्री माल्यवान् की मन्त्रणाओं को पढ़कर यह तथ्य और भी अधिक उजागर हो उठता है। वह अनार्य संस्कृति, राक्षसजाति तथा लंकाराष्ट्र की रक्षाहेतु सदैव चिन्तित रहता हैं; इसी दृष्टिकोण को लेकर वह सदैव रावण के हित में तत्पर रहता है; और आर्य संस्कृति, राक्षसजाति तथा आर्यराष्ट्र (भारतवर्ष) की रक्षा-सुरक्षा के भार को सफलतापूर्वक वहन करने की क्षमता रखने वाले राम के विनाश के लिए वह सभी प्रयत्न करता है। इसके लिए वह परशुराम को राम के विरोध में उत्तेजित करता है (महावीर-चरित, २/विष्कम्भक); मन्थरा के शरीर में शूर्पणखा को प्रविष्ट कराकर उसके माध्यम से राम को वनवासी बनाता है (वही, ४/विष्कम्भक); राम के विनाशहेतु बाली को युद्ध में प्रवृत्त करता है (वही, ५/४५-६३); और इस प्रकार वह भेदनीति का सहारा लेकर परशुराम और बाली, जो भारत के अप्रतिम वीर और रावणविजेता हैं, के द्वारा राम का विनाश चाहता है। भारत के सौभाग्य से उसे सफलता नहीं मिलती है।

राम और रावण का युद्ध निश्चय ही आर्यों और अनार्यों का युद्ध है। इसमें राम तथा उनकी सेना अपने आर्यदेश भारतवर्ष की प्रतीक हैं और रावण तथा उसकी सेना तत्कालीन अनार्यदेश लंका का प्रतिनिधित्व करती है। फलस्वरूप राम के युद्धोत्साह से भारतीयों में एक अमन्द उत्साह की लहर उठने लगती है और उनकी विजय को वे राष्ट्र की विजय मानने लगते हैं (वही, ६/२४-६३)।

भारतीय भूभागों के वर्णन में भी भवभूति की निष्ठा प्रशंसनीय है। रावण का वध करने के पश्चात् सीता को लेकर लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण

---

२. (क) महावीरचरित, १/४-७।
(ख) मालतीमाधव, १/४-८।
(ग) उत्तररामचरित, १/३-४।

आदि के साथ पुष्पक विमान पर बैठकर जब राम स्वदेश लौटते हैं तो मार्ग में मिलने वाले भारतीय भूभागों का वे बड़ा ही रोमहर्षक और चित्ताकर्षक वर्णन करते हैं (वही, ७/७-२६)। इसी प्रकार उन्होंने उत्तररामचरित में सीता के मनोविनोदार्थ लक्ष्मण द्वारा रामचरित के चित्रों को प्रदर्शित करने के प्रसंग में भागीरथी, श्यामवट, प्रस्रवणगिरि, पंचवटी, पम्पासरोवर आदि स्थान विशेषों का बड़ी ही स्पृहा के साथ चित्रण किया है (१/२३-३३)। आगे चलकर शम्बूक के वध के प्रसंग में भी उन्होंने दण्डकारण्य में आए हुए राम के माध्यम से दण्डकवन, गोदावरी नदी, पंचवटी (वही, २/१३-३० तथा तृतीयाङ्क) आदि दक्षिण भारतीय भूभागों का बड़ी ही भावुकता के साथ वर्णन किया है, जिसे पढ़कर उन सभी भूभागों के प्रति आत्मीयता के भाव पनप उठते हैं।

राज्य की सुव्यवस्था तथा प्रजा के सुख के प्रति भी भवभूति प्रायः जागरूक रहे हैं। अष्टावक्र द्वारा राम के लिए लाए गए महर्षि के सन्देश में उनका यही भाव प्रकट हुआ है (उत्तररामचरित, १/११)। इस सन्दर्भ में राम के इस कथन द्वारा कि प्रजारंजन में यदि उन्हें प्रेम, दया, सुख और यहाँ तक कि अपनी पत्नी सीता को भी त्यागना पड़े तो उन्हें दुःख नहीं होगा, भी भवभूति ने अपने इसी भाव को पुष्ट किया है (वही, १/१२)। अपनी प्रजा की प्रीति के लिए राम अपनी प्राणप्रिया अनघा सीता को त्यागना तो पसन्द करते हैं किन्तु प्रजा को इस प्रसंग में 'दुर्जन' कहा जाना पसन्द नहीं करते (वही, १/४४ के पूर्व)। वे अपनी प्रजा को इतना महत्त्व देते हैं कि अपनी परित्यक्ता पतिव्रता पत्नी सीता को प्रजा की इच्छा के बिना स्वयं हृदय से चाहकर भी स्वीकार नहीं करते हैं। (वही, ७/८-२०)।

भवभूति की धारणा के अनुसार राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र की रक्षा तथा प्रजा के प्रतिपालन के प्रति सदैव जागरूक और दृढ़संकल्प रहे। उनका यह भी विचार है कि राष्ट्र के कल्याण के लिए राजा को चाहिए कि वह विद्वानों के संरक्षण में रहे। क्योंकि विद्वानों के सत्प्रयत्नों से ही राष्ट्र समृद्ध होता है और पारस्परिक संघर्ष से बचा रहता है (महावीरचरित, ३/१८)। वे चाहते हैं कि राजा सदैव प्रजा का पालन करता रहे (वही, ७/१५); आलस्य त्याग कर राष्ट्र की रक्षा करता रहे; यहाँ समय पर जलवृष्टि होती रहे; किसी भी प्रकार की प्राकृतिक विपत्ति यहाँ न हो; यहाँ शस्य सम्पदा की सदैव समृद्धि बनी रहे; और राष्ट्र में सर्वत्र आनन्द और

उल्लास का वातावरण बना रहे (वही, ७/४२)।

उपर्युक्त सन्दर्भों के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट हो उठता है कि भवभूति की काव्यसम्पदा में भी अपनी राष्ट्रिय भावना का पुट है। किन्तु इसके बावजूद वे समस्त संसार का कल्याण चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि संसार के सभी लोग (सभी राष्ट्र) परस्पर एक-दूसरे का हित करने में प्रवृत्त हों; ईर्ष्यादि दोष समाप्त हों; और सारा संसार सभी जगह सुखी हो (मालतीमाधव, १०/२५)। उनकी इस भावना को पढ़कर यह तथ्य भी उजागर हो उठता है कि उनमें राष्ट्रिय भावना के साथ ही साथ अन्ताराष्ट्रिय भावना भी विद्यमान थी।

अनर्घराघवम्

सात अंकों में सम्पूर्ण हुए इस नाटक के रचयिता श्री मुरारि कवि हैं, जिनकी सत्ता ईशु की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर नवम शताब्दी के प्रथम चरण तक सम्भावित की जाती है। मुरारिविरचित इस नाटक का प्रकाशन श्री पाण्डुरंग जावजी ने अपने निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से किया है।

इस नाटक में ताटकावध से लेकर रावणवधपूर्वक रामराज्याभिषेक की कथा को रूपकायित किया गया है, जो भवभूतिकृत महावीरचरित की कथावस्तु से प्रायः मिलती-जुलती है। यद्यपि इस नाटक में महावीरचरित की भाँति राष्ट्रिय भावों का तीव्र संवेग उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि यह नाटक राष्ट्रिय भावों से सर्वदा शून्य है। क्योंकि हम देखते हैं कि नाटककार ने प्रारम्भ में ही सूत्रधार के माध्यम से यह भाव प्रकट किया है कि किसी अन्य द्वीप से आए हुए अभिनेता यहाँ (भारत) के दर्शकों को सन्तुष्ट नहीं कर सके हैं। अतः उन्हें तृप्त करने के लिए यहीं (भरतखण्ड) के अभिनेताओं को भले ही वे प्रवास में क्यों न हों, अभिनय प्रदर्शनहेतु अनुज्ञा प्रदान की गई है, जो सर्वथा उचित है (अनर्घराघवम्, १/२-४)। आगे चलकर विश्वामित्र-दशरथ संवाद के प्रसंग में नाटककार का यह भी कहना है कि राजा के पुत्र (राजकुमार) का वास्तविक प्रयोग तो राष्ट्र की प्रजा के हित के लिए ही किया जाता है; उसके जन्मदाता राजा के हिस्से में तो केवल उसके लालन-पालन का क्लेश ही होता है[3]। मिथिला जनपद

---

३. विश्वामित्रः—(सस्मितम्) राजर्षे ममकारो हि राजपुत्रेषु राज्ञामुपलालनक्लेशाय केवलम्, उपयोगस्तु प्रजानाम्। (अनर्घराघवम्, १/३९ के पश्चात्)

में शान्ति एवं पुष्टि को पाकर वह प्रसन्नता प्रकट करता है (वही, ३/१२)।

नाटककार श्री मुरारि कवि ने लंकादेश के राजा रावण के उन सैनिक उपनिवेशों पर भी प्रकाश डाला है जो सुग्रीव के विरुद्ध अपने मित्र वानरराज वाली की सहायता हेतु रावण ने उत्तरी तीर पर स्थापित कर रखे थे। उसने इस तथ्य को भी अनावृत किया है कि दक्षिण भारत में लंकापति रावण के इन्हीं सैनिक उपनिवेशों के कबन्ध, सुबाहु, मारीच, ताटका आदि अनेक दुर्दमनीय सैनिक उत्तरभारत तक अपना आतंक फैलाए हुए थे और भारतीय संस्कृति के पोषक आश्रमों का विनाश करने में लगे हुए थे। नाटक के नायक राम तथा सहनायक लक्ष्मण अपने राष्ट्रविरोधी इन समस्त राक्षसों का संहार करने के लिए ही विश्वामित्र द्वारा दीक्षित किए गए थे[४]।

रावण के मातामह तथा मन्त्री माल्यवान् और बहन शूर्पणखा के संवाद में नाटककार ने स्पष्ट किया है कि वानरराज वाली के मन्त्री जाम्बवान् को यह पसन्द नहीं था कि उसका राजा बाली लंका के राजा रावण का मित्र बने। क्योंकि रावण की संस्कृति भारतीय संस्कृति के विपरीत थी। किन्तु वाली द्वारा इस मन्त्रणा की उपेक्षा किए जाने पर जाम्बवान् की गुप्त मन्त्रणा के अनुसार हनुमान्, सुग्रीव को लेकर बाली से अलग हो जाते हैं (वही, २/विष्कम्भक)। जाम्बवान् भी प्रजानुरोधवश वाली के स्थान पर सुग्रीव को अभिषिक्त करने के कार्य में राम को सहायक बनाने का प्रयत्न करते हैं[५], जो सफल होता है[६]।

नाटककार ने माल्यवान् और शुक सारण नामक दो गुप्तचरों के वार्तालाप के प्रसंग में यह तथ्य सुतरां स्पष्ट कर दिया है कि राम-रावण का संग्राम सिद्धान्ततः दो प्रजातियों का तथा दो संस्कृतियों का संग्राम है[७]।

रावणवध के अनन्तर वह्निशुद्धा सीता, अनुज लक्ष्मण तथा लंकासमर के सुहृद् सुग्रीव, विभीषणादि के साथ पुष्पक विमान द्वारा श्रीरामभद्र की अयोध्या यात्रा के प्रसंग में नाटककार ने सुवेलगिरि, समुद्र, सेतुबन्ध, विन्ध्यगिरि, मैनाकगिरि, कैलाशगिरि, सुमेरुगिरि, पंचवटी, प्रस्रवणगिरि, गोदावरी नदी, दण्डकारण्यभूमि, कुण्डिनपुरी, आन्ध्रप्रदेश, उज्जयिनी, चेदिराष्ट्रराजधानी

---

४. वही, २/विष्कम्भक।
५. वही, ४/विष्कम्भक।
६. वही, ५/२२-५५।
७. वही, ६/विष्कम्भक।

मुण्डमालानगरी, यमुना नदी, गंगा नदी, वाराणसी नगरी, मिथिलापुरी, चम्पापुरी, प्रयागपुरी, सरयूनदी, अयोध्यानगरी आदि अनेक भारतीय भूभागों का आत्मीयतापरक प्रशंसाधायक वर्णन करके भारतभूमि के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया है, जो उसके निगूढ राष्ट्रियभाव को द्योतित करता है। (वही, ७/१-१३३)।

चम्पूभारतम्

ईशवीय एकादश शतक में भारतभूमि को अलंकृत करने वाले कविवर श्रीअनन्तभट्टकृत चम्पूभारतम् में पाण्डवों के जीवनचरित का बारह स्तवकों में बड़ा ही सरस वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रिय भावों पर प्रकाश नहीं डाला गया है, तथापि प्रजापालन, भारतीय भूभागवर्णन, पाण्डवीय राज्य की सार्वभौमता तथा साम्राज्यसीमा के वर्णन के प्रसंगों में पाठकों को अप्रत्यक्ष रूप से कविनिष्ठ राष्ट्रियभावना की अभिव्यक्ति का अनुभव होगा, ऐसी हमारी धारणा है। प्रजापालन के प्रसंग में कवि का संकेत है कि राजा को चाहिये कि वह अपनी प्रजा की रक्षाहेतु अपने व्यक्तिगत दुःखों की चिन्ता नहीं करे। यही कारण है कि अर्जुन अपने प्रजाभूत ब्राह्मण की चोरों द्वारा अपहृत गौओं की रक्षाहेतु द्रौपदी-युधिष्ठिर-शयनागार में रखे हुए अपने धनुष तथा तूणीर को उठाने के लिए प्रवेश कर जाते हैं, जबकि उन्हें यह ज्ञात था कि इस प्रकार का प्रवेश निषिद्ध है तथा इसके प्रायश्चित्त के लिए उन्हें एक वर्ष तक चर्म धारण करके आठों दिशाओं के तीर्थों में प्रवास करना होगा; और उन्होंने ऐसा किया भी। (चम्पूभारतम्, ३/२-२२) अर्जुन की इस प्रायश्चित्तनिमित्तक तीर्थयात्रा के वर्णन प्रसंग में उत्तर दिशा में स्थित हिमालय, पूर्वदिशा में स्थित महेन्द्रगिरि, दक्षिण दिशा में स्थित समुद्र तट, चोलदेश (तंजौर), पाण्ड्यदेश, मलयगिरि, सेतुबन्ध, पश्चिम दिशा में अवस्थित गोकर्णतीर्थ, प्रभासतीर्थ, रैवतकगिरि, द्वारकापुरी, आदि विभिन्न भारतीय भूभागों का कवि ने बड़ी ही आत्मीयता तथा श्रद्धा के साथ वर्णन किया है (वही, ३/२२-७९)। इसी प्रकार कपटद्यूतक्रीडा में पराजित हुए पाण्डवों की वनवासचर्या के प्रसंग में भी उसने काम्यकवन, हिमालय, बदरिकाश्रम, गन्धमादन गिरि, द्वैतवन, मत्स्यदेश, (विराटनगर) आदि अन्य अनेक उत्तरभारतीय भूभागों का आत्मीयतापूर्वक वर्णन किया है, जो उसकी देशभक्ति का परिचायक प्रतीत होता है (वही, ४/५०-६/३)। अपने राज्य को सम्पूर्ण भारत में सार्वभौमता-सम्पन्न करने के लिये युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ

के माध्यम से किया गया दिग्विजयरूप प्रयत्न उनकी हृदयगत राष्ट्रियभावना का ही प्रतीक प्रतीत होता है (वही, ४/१-१७)। अन्त में हिमालय से लेकर लंका की सीमा (समुद्र) पर्यन्त राजा युधिष्ठिर के साम्राज्य की सीमा का उल्लेख करके कवि ने आत्मनिष्ठ राष्ट्रभाव को ही अभिव्यक्ति देनी चाही है (वही, १२/३१-३२)।

क्षेमेन्द्र

महाकवि क्षेमेन्द्र के काव्यसागर में रामायणमंजरी तथा भारतमञ्जरी नामक दो काव्यमुक्ताएँ ऐसी हैं जिन पर राष्ट्रियता की आभा झलकती है। उनकी रामायणमंजरी में ६४०० पद्य तथा भारतमंजरी १०५४८ पद्य उपलब्ध होते हैं। उन्होंने अपनी रामायणमंजरी का उपजीव्य वाल्मीकिकृत रामायण को और अपनी भारतमंजरी का उपजीव्य व्यासप्रणीत महाभारत को सर्वात्मना बनाया है। उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में वाल्मीकीय रामायण और वैयासिक महाभारत में राष्ट्रिय भावना की अभिव्यक्ति पर विचार किया जा चुका है। अतः इनके ही प्रतिपाद्य विषय के आधार पर क्षेमेन्द्रविरचित रामायणमंजरी और भारतमंजरी नामक काव्यकृतियों में भी उसी प्रकार की राष्ट्रियभावना से मिलती-जुलती राष्ट्रियभावना की झलक मिलती है, जो नितान्त स्वाभाविक है। हाँ इतना अवश्य है कि उक्त भावना की जो सम्प्रेषणीयता वाल्मीकीय रामायण तथा वैयासिक महाभारत में है, वह क्षेमेन्द्रकृत रामायणमंजरी और भारतमंजरी में नहीं पाई जाती है।[८]

श्रीहर्ष

नैषधीयचरितकार महाकवि श्रीहर्ष की वैदग्ध्यपूर्ण काव्यसर्जना से संस्कृत-साहित्य के समीक्षक सुपरिचित हैं। हमने अपनी शोधयोजना के अनुसार जब इनकी काव्यसृष्टि को देखा तो पाया कि इनके नैषधीयचरित महाकाव्य में राष्ट्रिय भावना का भी कुछ संस्पर्श है। इस महाकाव्य में जैसा कि सभी जानते भी हैं कि, निषधनरेश नल और विदर्भराजभीमनन्दिनी दमयन्ती की प्रणयकथा का अतीव प्रौढ वर्णन किया गया है। किन्तु इसमें कतिपय स्थलों

---

८. क्षेमेन्द्रविरचित इन दोनों काव्यरत्नों का प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से हुआ है।

पर महाकविनिष्ठ स्वराष्ट्रप्रेम की भी क्षीण छवि देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित प्रसंग अवलोकनीय है :—

(क) दमयन्ती का स्वयम्वर होना है। इसी बीच देवराज इन्द्र की एक दूती दमयन्ती के पास पहुँचती है। वह दमयन्ती को बड़ी ही प्ररोचना के साथ समझाती है कि होने वाले स्वयम्वर में वह इन्द्र का वरण करे। क्योंकि उसके चाहने वालों में स्वर्गलोक के देवराज इन्द्र ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उसके इस प्रस्ताव का दमयन्ती की सखियाँ भी समर्थन कर देती हैं (नैषधीयचरित, ६/७६-८७)। किन्तु दमयन्ती इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती है। इस प्रसंग में उसने स्वर्गलोक की अपेक्षा अपने भारतवर्ष में ही रहना अधिक श्रेयस्कर माना है। उसका कहना है कि सत्पुरुषों ने भारतवर्ष को सर्वश्रेष्ठ देश बताया है। जिस प्रकार सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार सभी देशों में भारत देश श्रेष्ठ है। यह स्वर्ग से भी बढ़कर है। क्योंकि स्वर्ग में तो केवल पूर्वपुण्योपार्जित सुख का उपभोग किया जाता है। वहाँ किसी भी प्रकार का नया धर्मकार्य करके उज्ज्वल भविष्य हेतु पुण्यार्जन करने का अवसर नहीं मिलता है। फलस्वरूप पूर्वोपार्जित पुण्यों का किसी न किसी दिन क्षय हो ही जाता है। और तब प्राणी को स्वर्गलोक से हटना ही पड़ता है। किन्तु भारतभूमि में ऐसा नहीं है। यहाँ मनुष्यों को पूर्वपुण्योपार्जित सुखोपभोग के साथ ही साथ अपने भविष्य को भी सुधारते रहने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। फलस्वरूप वह विविध धर्मकार्यों को करता हुआ नित्य नूतन पुण्य को उपार्जित कर सकता है। इस प्रकरण में दमयन्ती के माध्यम से अपने भारत देश की प्रशंसा करते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने यहाँ तक कह दिया है कि भारत भूमि और स्वर्गभूमि में ठीक वैसा ही अन्तर है जैसा कि शर्करा और सिकता में होता है—

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययेह शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः॥
स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
शक्या मखेनापि मुदोऽमराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे॥
साधोरपि स्वः खलु गामिताधो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे।
इत्यायती चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न?
प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः?

—नैषधीयचरित, ६/९७-१००

(ख) दमयन्ती के स्वयम्वर के अवसर पर भी श्रीहर्ष ने सरस्वती के मुखारविन्द से जम्बूद्वीप, जहाँ भारतवर्ष की स्थिति है, के राजाओं के वर्णन प्रसंग में उज्जयिनी, मथुरा, वृन्दावन, काशी (वही, ११/८३-१२८), अयोध्या, कांची, मिथिला (वही, १२/५-४०) आदि भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक नगरियों का बड़े ही उत्साह के साथ वर्णन किया गया है जो तन्निष्ठ स्वदेशानुराग का व्यंजक है।

भूपरिक्रमणम्

यह कृति लोककथा-परक है। इसके रचयिता कविकुलरसालकोकिल मैथिलेय विद्यापति हैं, जो हिन्दी-साहित्य-नभोमण्डल में शारद शर्वरीश्वर माने जाते हैं। इस कृति की सर्जना कविवर ने अपने जीवन के किशोरकाल (ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध) में ही कर ली थी। उल्लेखनीय है कि मिथिला सांस्कृतिक परिषद् (६ बी, कैलाशशाहा लेन, कलकत्ता-७) ने इस मूल्यवती कृति को डॉ० आचार्य मुनीश्वर झा (प्रो० तथा अध्यक्ष, भाषा-शास्त्र विभाग, राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता) द्वारा सम्पादित कराके सन् १९७६ ई० में प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत कृति का प्रतिपाद्य है कि नैमिषारण्यतीर्थ में अग्निपुराण के वक्ता सूत को मार देने से बलराम पर ब्रह्महत्या का पाप चढ़ जाता है। इस पाप को नष्ट करने के लिए मुनिजनों की प्रेरणा से बलराम भूपरिक्रमण करने हेतु निकल पड़ते हैं। इसी प्रसंग में वे द्रुपददेश में पहुँचते हैं। वहाँ उन्हें त्रिकालज्ञ मुनि धौम्य मिलते हैं। वे भी उनके साथ हो लेते हैं और बलराम के यात्राश्रमश्रांत मन को रंजित करने के लिए उन्हें नाना प्रकार की उपयोगी कथाएँ सुनाते हैं। उन कथाओं से एक कथा देशभक्त परमवीर रणथम्भौरनरेश चह्वाणवंशावतंश श्री हम्मीरदेव की भी है, जिसे पढ़कर अपने देश और अपनी शरणागतवत्सला संस्कृति के प्रति स्वाभिमान की भावना उद्दीप्त हो उठती है (भूपरिक्रमण, पृ० सं० १०-१५)। स्मरणीय है कि ये श्री हम्मीरदेव वही श्री हम्मीरदेव हैं जिन्होंने अपने भारतीय स्वाभिमान तथा अपनी शरण में आए हुए यवनजातीय अनुजीवी योधा महिमाशाह को रक्षाहेतु दिल्ली के यवनसम्राट् अलाउद्दीन से भीषण युद्ध किया था, जिसमें उनका सर्वस्व स्वाहा हो गया था।

कवि ने अपनी इस कृति में उपर्युक्त प्रसंग में बलराम द्वारा द्रुपद देश,

ब्रह्मावर्त्त, प्रयाग, काशी, सारनाथ, जनकदेश आदि उत्तरभारत के सभी प्रमुख क्षेत्रों के अन्तर्गत आने वाले सभी तीर्थस्थानों की यात्रा कराई है, जिसे पढ़कर हृदय में भारतीय भूभागों के प्रति आदरपूर्वक आत्मीयता का भाव जागता है।

प्रतीत होता है कि यह कृति अपूर्ण है। क्योंकि कवि ने इसके आरम्भ में कहा है वि उसकी इस कृति में चार खण्ड होंगे, ६५ कथाएँ होंगी और ६५ देशों (भारतीय प्रदेशों) का वर्णन होगा।[९] किन्तु वर्तमान में उपलब्ध पुस्तक में केवल सात देशों (भारतीय प्रदेशों) और आठ कथाओं का ही विवरण मिलता है। इससे सिद्ध है कि विद्यापति की यह कृति विशालाकार रही होगी जिसमें समग्र भारतभूमि के प्रदेशों एवं तीर्थों का विवरण रहा होगा और कथाएँ भी विविध विषयों पर रही होंगी। फलस्वरूप यह उद्‌भावना असंगत नहीं मानी जा सकती कि यह कृति समग्र भारतभूमि का विवरण प्रस्तुत करने के कारण भारतीयों को भारतदेश का परिचय कराने में तथा उसके प्रति आत्मीयता की भावना जगाने में पूर्णतया समर्थ रही होगी।

हम्मीरमहाकाव्य

इसमें १४ सर्ग हैं और १५७६ पद्य हैं। इसके रचयिता महाकवि श्री नयचन्द्र सूरि हैं। इन्होंने ग्वालियर के तोमरवंशीय राजा वीरम के राज्यकाल में सभासदों के इस वाक्य को सुनकर कि 'प्राचीन महाकवियों द्वारा लिखे गए काव्यों जैसा काव्य अब कोई नहीं लिख सकता', इस महाकाव्य की सर्जना ईशवीय सन् १४०० के आस-पास की थी। इसका प्रथम प्रकाशन श्री नील-कण्ठ जनार्दन कीर्तने ने ईशवीय सन् १८७९ में बम्बई से किया था। किन्तु प्रकाशन के दुलभ होने पर मुनि श्री जिन विजय ने राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर (राजस्थान) से ईशवीय सन् १९६८ में इस काव्य का द्वितीय प्रकाशन कराया है, जो सम्प्रति उपलभ्य भी है।

वीररसप्रधान इस महाकाव्य में प्रमुख रूप से चाहमान (चौहान) वंशा-वतंस, रणस्तम्भपुर (रणथम्भोर) नरेश, महावीर श्री हम्मीरदेव के अप्रतिहत शौर्यप्रताप एवं यशश्चन्द्रिका का अतीव सजीव तथा मर्मस्पर्शी वर्णन किया

---

९. पंचषष्टिदेशयुतां पञ्चषष्टिकथान्विताम्।
चतुष्खण्डसमायुक्तामाह विद्यापतिः कविः॥
(भूपरिक्रमणम्, पृ० १)

गया है। आरम्भ के तीन सर्गों में श्री हम्मीरदेव के पूर्वजों का भी शौर्य-सम्पन्न शासन वर्णित किया गया है। इस प्रसंग में पाठक को दिल्लीनरेश पृथ्वीराज चौहान के भी अनुपम शौर्य एवं देश हितार्थ आत्मोत्सर्ग का रोम-हर्षक वर्णन पढ़ने को मिलता है। भारतीयता के विरोधी विदेशी आक्रान्ता शहाबुद्दीन गौरी के वर्बर आक्रमणों से त्रस्त हुए पश्चिमी भारत के भारतीय नरेशों की मान-मर्यादा की रक्षाहेतु दिल्लीनरेश पृथ्वीराज चौहान ने जिस वीरता के साथ उससे युद्ध किया; उसे अनेक वार परास्त किया; परास्त करके उसे दयापूर्वक प्राणदान भी दिया; और उसके कपटकूट में फँस कर दीवाल में चिनाए जाकर आत्मोसर्ग किया; इन सभी ऐतिहासिक घटनाओं का इस काव्य में अतीव मार्मिक वर्णन किया गया है (३/१-७३), जिसे पढ़कर अपने देश की गरिमा की रखवाली में मर मिटने वाले इस शहीद के प्रति हमारा मानस द्रवीभूत हो उठता है।

इस महाकाव्य के प्रमुख चरितनायक रणथम्भोरनरेश श्रीहम्मीरदेव ने अपने देश तथा अपने धर्म की रक्षाहेतु विदेशी आक्रान्ता अतिवल यवनसम्राट् अलाउद्दीन के साथ जो अतिभीषण युद्ध किया है, वह अविस्मरणीय ही नहीं, अपितु रोमांचक एवं अपने देश-धर्म की मर-मिटकर भी रक्षा करते रहने की प्रवल प्रेरणा देनें वाला है। इस प्रकरण में हम्मीरदेव की वीरता, धीरता और अपनी भारतीय मान मर्यादा के प्रति अचल आस्था वस देखते ही वनती है। वह यवनसम्राट् अलाउद्दीन के भारतीयताविरोधी शासन का विरोधी है; उसकी अधीनता को स्वीकार करना उसकी दृष्टि में अपने देश, अपने धर्म और अपनी संस्कृति को नष्ट करना है, जिसे वह कदापि पसन्द नहीं करता है (११/५२-६९; १३/१०५-१२९, १४८-१५१)। अपने सेनाधिकारी रतिपाल और रणमल्ल द्वारा लोभवश होकर आक्रामक अलाउद्दीन के साथ मिलकर देशद्रोह किये जाने पर अपनी विजयश्री के प्रति निराश होने के बावजूद श्रीहम्मीरदेव अपने देश-धर्म के हित हेतु अपनी रानियों तथा अन्य क्षत्रिय कुमारियों और क्षत्रिय कुलाङ्गनाओं को 'अग्नि जौहर' का आदेश देकर अपने समग्र शौर्य और अङ्गुलिगण्य साथी योधाओं को लेकर प्राणोत्सर्गोन्मुख अति-भयंकर युद्ध करते हैं और शत्रु सैनिकों का भीषण संहार करते हुए उनके बीच फँस जाने पर यह सोचकर कि ये विधर्मी शत्रु कहीं मुझे जीवित न पकड़ लें, अपनी तलवार से स्वयं ही अपना शिरश्छेद करके अद्भुत और अनुपम वीर-गति को प्राप्त कर लेते हैं (१३/६८-२२६)।

महाकवि ने अपने चरितनायक हम्मीरनिष्ठ देशभक्ति की भरपूर प्रशंसा की है। उसे अपने देश, अपनी प्रजा, अपने धर्म, अपनी भाषा अपने दर्शन और अपनी संस्कृति का सुदृढ़ रक्षक बताया है, जैसा कि वह था भी (१३/१-१५)। महिमाशाह वन्धुओं जैसे भारतीयताभक्त यवन सरदारों की भी जातिवादहीन राजभक्ति को कवि ने वड़ी ही भावुकता और प्रभविष्णुता के साथ प्रस्तुत किया है (१०/७४, १३/१०, ३४-३७, १४८-१६६, २०६, १४/१६-२०)। इसके ठीक विपरीत उसने रतिपाल जैसे देशद्रोहियों के प्रति घृणा का भी पर्याप्त संचार किया है (१३/७३-१०४, १३०-१३५, १४०-१४१, १६१-१६३, १४/१६, २१)। यद्यपि इस महाकाव्य में वर्णित चाहमान (चौहान) वंशीय सभी नरेशों के कार्यकलाप देशभक्ति एवं देशाभिमान से परिपूर्ण हैं, तथापि पृथ्वीराज चौहान और हम्मीरदेव के अपने देश, अपने धर्म, अपनी जाति और अपनी संस्कृति की रक्षाहेतु अपने सर्वस्व का समर्पण करते हुए किए गए अनुपम शौर्यसाहससम्पन्न कार्यकलापों का जो वर्णन किया गया है, उसे पढ़कर व्यक्ति को विदेशी अंग्रेज शासकों की दासता के पाश से अपनी भारतमाता की मुक्तिहेतु वीरता और धीरता के साथ प्राणोत्सर्ग करने वाले सरदार भगतसिंह और आजाद चन्द्रशेखर की याद आ जाती है, जो उसके मनोमस्तिष्क में स्वराष्ट्राभिमान के भावों को उद्दीप्त कर उठती है।

वीरभानूदयकाव्यम्

यह वारह सर्गों और आठ सौ इक्यासी पद्यों में सम्पूर्ण होने वाला महाकाव्य है। इसके प्रणेता श्रीमाधव हैं। इस महाकाव्य की सर्जना १५५० ईशवीय के आस-पास हुई है और इसका प्रथम प्रकाशन ईशवीय सन् १६३८ में रीवाँनरेश महाराज गुलावसिंह ने डा० हीरानन्द शास्त्री (संचालक, पुरातत्त्व विभाग, वड़ौदा) के सम्पादकत्व में कराया है। यद्यपि इस काव्य में भारतवर्ष के वघेलवंशीय राजा भीम से लेकर राजा वीरभद्र तक के सभी वघेल राजाओं का ऐतिहासिक काव्यमय वर्णन किया गया है; किन्तु प्रमुख रूप से राजा वीरभानु का ही चरित अंकित किया गया है और उसे ही इस महाकाव्य का प्रमुख नायक माना गया है[१०]।

यह काव्य भारतीय नरेशों के स्वाभिमान तथा सांस्कृतिक प्रेम से भरपूर

१०. डा० राजीव लोचन अग्निहोत्री, बघेलखण्ड के संस्कृत काव्य, पृ० १००-११४ तथा १४०-१४६।

है। इसमें भारतीय तीर्थों, देवी-देवताओं तथा पुण्यसलिता सरिताओं के प्रति निष्ठा प्रकट की गई है (वीरभानूदयकाव्य, ४/१-५७ ; ५/२२-३१, ६४, १००); अपने राज्य की रक्षा-सुरक्षा की दृष्टि से कोष, दण्ड, सेना, वाहनों तथा गुप्तचरों की अच्छी व्यवस्था रखने तथा राज्य के शत्रुओं को परास्त करने का प्रोत्साहन दिया गया है (वही, ५/३९-४०, ४६, ५१, ६४-८८, १०२-१०६, १३१, १३६, १५१-१५३, ६/३६-३९); प्रजानुरंजन को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है (वही, ५/५३, १०९-११३, १२६, १२८); लोकहितार्थ उद्यानों, राजमार्गों, सरोवरों, वापियों आदि के निर्माण पर ध्यान देने की बात कही गई है (वही, १/२५-२८, २/२६-२७, ५/११८); कृषि तथा वाणिज्य के विकास के लिए प्रेरणा दी गई है (वही, ५/६८, ७८), विदेशी यवन शासकों के समक्ष भी स्वाभिमान की रक्षा करने का साहस दिया गया है (वही, १२/२०-२३); और विदेशियों के शासन को समाप्त करने के सपने भी देखे गए हैं (वही, ७/१-६२)।

सुर्जनचरित

२० सर्गों और १४४४ पद्यों में समाप्त होने वाले इस महाकाव्य के प्रणेता महाकवि श्री चन्द्रशेखर हैं। ये बंगाली थे; अम्बष्ट कुल के थे; श्री जितामित्र के पुत्र थे; और प्रस्तुत महाकाव्य के प्रमुख चरितनायक श्री राव सुर्जन के सभाकवि थे। इन्होंने अपने इस महाकाव्य की सर्जना श्री राव सुर्जन के साथ काशी में रहकर ईशवीय सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में की थी। सैकड़ों वर्ष बाद श्रीरावसुर्जन के वंशज कोटानरेश श्री भीमसिंह द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से डॉ चन्द्रधर शर्मा (प्राध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) ने ईशवीय सन् १९५२ में इस महाकाव्य का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन किया है।

इस काव्य में चाहमान (चौहान) वंशीय राजाओं का क्रमिक वर्णन किया गया है। महाकवि ने इस वंश के आदिम नरेश वासुदेव से लेकर राव भोजदेव तक के सभी चौहानवंशीय राजाओं की वंशावली तथा शासनप्रणाली का इतिहास मिश्रित साहित्यिक वर्णन किया है। देश, देश की संस्कृति, देश की प्रजा और देश की प्रतिष्ठा की प्राणपण से रक्षा करने की दृष्टि से इस काव्य में पृथ्वीराज, हम्मीरदेव तथा राव सुर्जन के कार्यकलाप विशेष उल्लेखनीय हैं। हम देखते हैं कि अपने देश की मानमर्यादा की रक्षाहेतु शहाबुद्दीन

मुहम्मद गौरी जैसे प्रबल आक्रामक विदेशी यवनराज से पृथ्वीराज युद्ध करते हैं; उसे इक्कीस बार युद्ध में पराजित करते हैं; दयालुतावश उसे प्रत्येक बार प्राणदान भी देते रहते हैं; एक बार उसके कपटजाल में फँसकर बन्दी हो जाते हैं; उसके द्वारा नृशसतापूर्वक अन्धे बना दिए जाते हैं; पर अन्त में अपने मित्र कवि चन्द की वाचिक सहायता से मुहम्मद गौरी को अपने शब्दवेधी बाण द्वारा मृत्यु के घाट उतार कर चन्द के साथ ही निकल भागते हैं और इस प्रकार भारतीय वीरता का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं (सुर्जनचरितम्, १०/१२७-१६६)।

वीर हम्मीरदेव ने भी भारतीयता के विनाशक और आक्रामक विदेशी यवनों को बड़ी ही वीरता है साथ मार भगाया है (वही, ११/१५-१७); तत्कालीन यवनराज अलाउद्दीन के भाई उलूग खां के प्रबल आक्रमण को निष्फल किया है (वही, ११/६४-७०); अलाउद्दीन के साथ भी भीषण संग्राम किया हैं; अपनी शरण में रहने वाले किन्तु भारतीयता के पोषक महिमाशाह (मीर मुहम्मद शाह) आदि यवनवीरों की भी रक्षा की है; तथा अपने देश और धर्म की रक्षाहेतु अपनी रानियों को 'जौहर' का आदेश देकर प्राणों का मोह त्यागकर अपनी अन्तिम साँस तक अपने देशद्रोहियों का भीषण संहार करते हुए समरभूमि में ही वीरगति प्राप्त की है (वही, ८२/१-७७)।

महाकाव्य के प्रमुख चरितनायक राव सुर्जन की देशभक्ति के साथ ही साथ दूरदर्शिता भी उल्लेखनीय है। इन्होंने भी भारतद्रोही यवनों और पठानों को परास्त किया है (वही, १३/७६) तथा मुगलसम्राट् अकबर की सेना को भी युद्ध में तेरह बार पराजित करके भारतीय वीरता की गरिमा को बढ़ाया है (वही, १६/७-११)। इतना ही नहीं, बल्कि स्वयम् अकबर की भी संरक्षता में आक्रमण करने वाली सर्वाङ्गीण मुगलसेना को राव सुर्जन ने अपने भीषण सामरिक पराक्रम से सन्त्रस्त किया है। फलस्वरूप अकबर को विजय से निराश होकर राव सुर्जन से सन्धि करनी पड़ी है (वही, १६/११-१८/२२)। इन उपर्युक्त उत्कट देशभक्त वीर नरेशों के अतिरिक्त राजा विश्वपति के पुत्र राजा हरिराज ने भी देशद्रोही यवनों को परास्त करके भारतीय गौरव में उल्लेखनीय वृद्धि की है (वही, ४/४७-५३)।

कवि ने अपने इस काव्य में राष्ट्र के योग-क्षेम की भी सामयिक चिन्ता प्रकट की है (वही, ५/२८-४०)। उसने भारतीय संस्कृति के प्रतीक रूप में प्रसिद्ध देवी-आराधना का (वही, ३/५१-४/३०), शिव-आराधना का (वही,

६/६३-८०), विष्णु-आराधना का (वही, १३/३४-४३); एवं पुष्कर (वही, ७/२७-८/२५), मथुरा-वृन्दावन-गोवर्धन (वही, १८/२५-८०)- प्रयागराज-काशी आदि (वही, १६/१-४७) पावन तीर्थस्थानों का भी अतीव प्रभावशाली वर्णन किया है, जिसे पत्रकर अपने राष्ट्र के प्रति आदर का भाव पनप उठता है।

विश्वगुणादर्शचम्पूः

ईशु की सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में वेंकटाध्वरि नामक दाक्षिणात्य कवि द्वारा विरचित इस चम्पू काव्य का सन् १९६३ ई० में चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशन हुआ है। इस काव्य में कवि ने कृशानु और विश्वावसु नामक दो गन्धर्वों की वायुयान द्वारा भारतभूमि की अनवरत यात्रा का वर्णन किया है। उसने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूर्त्तिमान् प्रतीक वदरिकाश्रम, आयोध्या, काशी, जगन्नाथपुरी, कांची, तंजावर, सेतुवन्ध आदि पवित्र तीर्थस्थानों का; गंगा, यमुना, क्षीरा, कावेरी आदि पावन सरिताओं का, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्णाटक आदि प्रदेशों का संवाद शैली में अतीव रोचक वर्णन करके लोगों के मन में अपनी समग्र भारतभूमि के प्रति आस्था सुदृढ़ की है। इस कृति में कृशानु के माध्यम से उपर्युक्त सभी प्रसंगों में निन्दापरक पूर्वपक्ष की प्रौढ उद्भावना करके उसका विश्वावसु के माध्यम से प्रशंसापरक प्रौढतर सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया गया है।

देशभक्ति की भावना से रहित तथा भारतीय संस्कृति और सभ्यता को उपेक्षा तथा अनादर की दृष्टि से देखने वाले लोग उपर्युक्त भारतीय तीर्थों, नदियों, प्रदेशों आदि के विषय में जो कुछ भी निन्दापरक कल्पना कर सकते हैं, कवि ने उस सबका उन-उन प्रसंगों में कृशानु द्वारा प्रस्तुत किए गए पूर्वपक्ष में यथाशक्ति समावेश कर दिया है। तत्पश्चात् विश्वावसु के माध्यम से उन सभी पूर्वपक्षीय असद् उद्भावनाओं का अपनी अकाट्य युक्तिपूर्ण उक्तियों द्वारा खण्डन करके उसने पाठकों के हृदय में भारतभूमि के भूभागों के प्रति गौरवपूर्ण आत्मीयता का भाव भरकर आत्मनिष्ठ राष्ट्रियभावना को प्रकट किया है। इतना ही नहीं, अपितु उसने यत्र-तत्र विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा भारतभूमि के आक्रान्त किए जाने पर भी हार्दिक दुःख प्रकट किया है[११]। अन्त में कवि ने अपना यह भाव स्पष्ट भी कर दिया है कि लोगों को चाहिए कि वे इस कृति

११. विश्वगुणादर्शचम्पूः, पद्यसंख्या १४१, १४५, २६२।

में वर्णित भारतभूमि को कृशानु की दृष्टि से नहीं देखें; इसकी निन्दा किंवा उपेक्षा नहीं करें; वल्कि सहृदयतापूर्वक इसे विश्वावसु के दृष्टिकोण से देखें; और इसका हृदय से समादर करें।[12]

नानकचन्द्रोदयमहाकाव्यम्

२१ प्रस्तावों (सर्गों) और ३५७९ श्लोकों में सम्पन्न होने वाले इस महाकाव्य के रचयिता काशी निवासी महाकवि पं० देवराज शर्मा हैं जो सिक्खों के उदासिसम्प्रदाय के उपासक थे। इस अतिमहत्त्वपूर्ण महाकाव्य की सर्जना ईशवीय सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई थी। हर्ष का विषय है कि ईशवीय सन् १९७७ में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से इसका प्रकाशन भी हो चुका है। महाकवि ने अपने इस महाकाव्य में सिक्खों के आदि गुरु श्रीनानक के समग्र जीवनचरित का सविस्तार वर्णन किया है। अन्त के दो प्रस्तावों (सर्गों) में सिक्खों के अन्य नौ गुरुओं का भी संक्षिप्त किन्तु प्रभविष्णु वर्णन कर दिया है।

यद्यपि यह महाकाव्य प्रमुखतया धर्मप्रधान एवं मानवतावादी सन्तचरित-काव्य है और इसमें गुरुनानक के लोकोत्तरचमत्कारपूर्ण तथा समग्रमानवतो-पयोगी दिव्यादिव्य कार्यकलाप की ही प्रधानता है, तथापि प्रत्येक संवेदनशील पाठक इस महाकाव्य को पूरा पढ़कर यह अनुभूति करता है कि आदि गुरु श्री नानक से लेकर अन्तिम गुरु श्री गोविन्दसिंह तक सभी गुरुओं ने भारतीय संस्कृति का प्रचार, प्रसार, सम्मान एवं संरक्षण करते हुए अपने राष्ट्र के वर्वर आक्रामकों का वड़ी ही धीरता और वीरता के साथ मुकाविला किया है तथा भारतीय जनता में एकता का सूत्रपात किया है। फलस्वरूप उसके मस्तिष्क में यह विचार भी वनने लगता है कि यह महाकाव्य धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु राष्ट्रियभावनात्मक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

बालमार्तण्डविजयम्

यह नाटक है। इसमें पाँच अंक हैं। इसके रचयिता दाक्षिणात्य विद्वान् श्री देवराज शास्त्री हैं जो दक्षिणी ट्रावनकोर में शचीन्द्रम् नामक नगर

---

१२. प्रकाशदोपप्रचुरेऽप्यमुष्मिन् ग्रन्थे मदीये करुणानुवन्धात्।
प्रसादवन्तो न कृशानवन्तु परन्तु विश्वावसवन्तु सन्तः॥
(वही, पद्यसंख्या ५९७)

के समीप आश्रम नामक गाँव के रहने वाले थे। इस नाटक की रचना ईशवीय सन् १७५० के आस-पास हुई थी। किन्तु इसका प्रकाशन ई० सन् १९३० में त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज़ से हुआ।

इस नाटक में नाटककार ने दक्षिण भारतीय शचीन्द्रनगर के राजा वंचिवंशावतंस श्री बालमार्त्तण्ड की भगवद्भक्ति, प्रजावत्सलता तथा दिग्विजययात्रा का रोचक वर्णन किया है। उसने विभिन्न प्रसंगों में अपने चरित-नायक के माध्यम से कुछ राष्ट्रोपयोगी विचार भी व्यक्त किए हैं। उसका विश्वास है कि हरिभक्ति अर्थात् धर्म के बिना राजसत्ता अनर्थकारिणी हो जाती है; अतः प्रजापालन के लिए किंवा राज्य के विकास के लिए राजा के राज्य में अनेक प्रकार की विपत्तियाँ घर कर लेती हैं;[13] तथा धार्मिक स्थानों के परिष्कारहेतु उसे प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना चाहिए।[14] नाटककार ने भरतवाक्य में भी राष्ट्रकल्याणकारिणी कामना की है कि राज्य में सुवृष्टि हो; धरित्री सस्यसम्पन्ना हो; राजा अपनी धार्मिक मर्यादा का पालन करें; गौएँ परिपुष्ट हों; ब्राह्मणों (ज्ञानियों) का पोषण हो; और सत्साहित्य की सर्जना करने वाले राष्ट्र के उद्गाता कविजन राजसम्मान पाते हुए सुखी रहें।[15] फलस्वरूप कहा जा सकता है कि यह नाटककार भी अपने मनो-मस्तिष्क में राज्यकल्याण की भावना रखता था।

---

१३. बालमार्तण्डविजयम्, १/२० २२।

१४. वही, १/३३-४२।

१५. वही. ५/१७४।